ॐ

श्रीवीतरागाय नमः।

जैनधर्म का परिचय।

ट्रैक्ट नं० ६

लेखक

श्रीमान् सेठ हीराचंद नेमचंदजी

आनरेरी मजिस्ट्रेट, शोलापुर।

प्रकाशक

दि० जैन मालवा प्रां० सभा

मंत्री—बड़नगर।

द्वितीयावृत्ति | सन् १९१५ | श्री वीर नि० सं० २४४२

तारा यन्त्रालय काशी।

27-8-54

भूमिका।

इस सभा से ट्रैक्ट विभाग द्वारा पूर्व में चार ट्रैक्ट [illegible] [illegible] निषेध तथा मूर्ति पूजन, [illegible] [illegible] और [illegible] सूत्र का उपाय, ये ४ ट्रैक्ट सर्वसाधारण के लाभार्थ प्रकाशित हो चुके हैं। जिनसे आप महानुभावों ने पूर्ण लाभ प्राप्त किया होगा। अब यह "जैनधर्म का परिचय" नामक ५ वां ट्रैक्ट सर्वसाधारण के लाभार्थ प्रकाशित किया जाता है इसे माननीय श्रीमान् सेठ हीराचंद नेमचंदजी [illegible] शोलापुर निवासी ने जो कि बड़े बहुश्रुती गुणज्ञ विद्वान हैं संग्रह कर व्याख्यान रूप में पहले प्रकाशित किया था इसके अन्दर संक्षिप्त में जैन धर्म संबंधी बहुत सी बातें लिखी गई हैं इसे प्रत्येक व्यक्ति आद्योपान्त अवलोकन कर जैन धर्म के स्वरूप को जान सकता है। इस संग्रह पढ़ने स्वाध्याय के लायक हैं।

श्रीमान् कुमार देवेन्द्र प्रसाद जी आरा निवासी ने ऐसी उपयोगी पुस्तक कम मिलने के कारण इसकी पुनरावृत्ति कराने में पूर्ण कोशिश की और छपाने प्रूफ संशोधनादि में बड़ा परिश्रम उठाया इसके लिये हम उनके आभारी हैं।

भगवानदास जैन, मंत्री।

श्रीवीतरागाय नमः।

जैनधर्मका परिचय।

जैनधर्मका कुछ परिचय हमको बतावो। इस प्रकार यूनियन क्लबके सभासदोंने (मेम्बरोंने) कईबार मुझसे अनुरोध किया है, इस कारण आज मैं जैनधर्मका संक्षिप्त वर्णन करता हूं प्रथम इस विषयको मैं नव विभागों में विभक्त करता हूं। जैसे,—

(१) जैनधर्म क्या है? (२) जैनधर्मके मुख्य तत्त्व। (३) उपदेशका क्रम। (४) पापपुण्यका स्वरूप। (५) कर्मबंधनका स्वरूप (६) मोक्षका स्वरूप व उसकी प्राप्तिका उपाय। (७) मूर्तिपूजन। (८) जैनधर्मके मुख्यतत्वोंसे अन्यधर्मोंका साम्य। (९) जैनधर्मसे इस लोकसंबंधी सुख व देश हित। इस प्रकार नव विभाग करके प्रत्येक विभागको संक्षेपतासे वर्णन करता हूं।

१ जैनधर्म।

जिन देव द्वारा कहा हुवा वा उपदेश किया हुवा जो धर्म सो 'जैनधर्म' है। जिनेश्वर कहिये "रागद्वेषादि दोषान् वा कर्मशत्रून् जयतीति जिनः" रागद्वेषादि जो काम, क्रोध, लोभ,

(१) तारीख १४ मार्च सन १९०१ इस्वीको शोलापुरके यूनियन क्लबमें श्रीयुत श्रेष्ठिवर्य हीराचन्द नेमीचंदजी आनरेरी मजिस्ट्रेट शोलापुरने 'जैनधर्मका परिचय" इस विषयपर व्याख्यान दिया था। सभापतिका स्थान रा० सा० काशीनाथ बापूजी पाठक, बी. ए, हेडमास्टर हाईस्कूल शोलापुर ने ग्रहण किया था।

मोह, मद, मत्सरादिक दोषोंको जिसने जीते अथवा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इत्यादि कर्म-रूपी शत्रुओं को जिसने जीत लिये ऐसे जिन कहिये गणधरादिक, तिनमें जो श्रेष्ठ तीर्थंकर केवलज्ञानी हैं उनको 'जिनेश्वर' कहते हैं। इनको वीतराग, अरहंत, सर्वज्ञ, परमेष्ठी और शास्ता आदिक भी कहते हैं।

(१) वीतराग कहिये "वीतः रागः यस्मात् सः वीतरागः" दूर हो गये हैं रागद्वेषादि विकार जिसमें से सो वीतराग है। (२) अर्हंत कहिये इन्द्रादिक देवोंकर पूजनीय। (३) सर्वज्ञ कहिये समस्त चराचर पदार्थोंको जानने वाला। (४) परमेष्ठी कहिये "परम पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी" अर्थात् उच्च पद में रहने वाला है। (५) शास्ता कहिये हित अहित को बतानेवाला वा हितका उपदेश करनेवाला। इस प्रकार उसके सैकड़ों हज़ारों सार्थक (गुण प्रकाशक) नाम हैं। बर्तमान समयमें इस भारतवर्ष में जो जैन धर्मावलम्बी मनुष्य हैं उनमें मुख्यतया तीन प्रकार के पंथ हैं। दिगम्बरीय, श्वेताम्बरीय, और ढूंढिया। इन तीनों पंथो के मुख्य तत्त्वों में कुछ भी अन्तर (फर्क)

---

[१] मूल शब्द 'अर्हत्' है उसका प्राकृत (मागधी) भाषामें 'अरहंत्' ऐसा उच्चारण करते हैं। संस्कृत के सिवाय अन्य भाषावों में 'अरहंत' इस प्रकार कहने की प्रवृत्ति है सो बहुत ठीक है। कितनेही महाशय (अरीणां हन्ता अरिहंता) ऐसा विग्रह करके 'अरिहंत' ऐसे प्राकृत भाषा के शब्दकी कल्पना करते हैं परन्तु इसका संस्कृत शब्द बनाने से 'अरिहन्तु' ऐसा अकारान्त बनता है और इसका अर्थ शत्रुवों को नष्ट करने वाला होता है, यद्यपि इस प्रकार अर्थ करने में विशेष बाधा नहीं है, परन्तु आचार्यों के बनाये हुये जो संस्कृत ग्रंथ हैं उन मे किसीने भी 'अरिहन्तु' ऐसे शब्द का व्यवहार नहीं किया है अर्थात् समस्त जैन ग्रंथों में 'अर्हत्' शब्दका ही प्रयोग पाया जाता है।

नहीं है अर्थात् तीनों ही पंथ सात तत्त्व, चौबीस तीर्थंकर, अहिंसा धर्म, सम्यग्दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र आदिक मानते हैं। मूर्तिपूजा, साधुके स्वरूप आदिकमें कुछ २ अन्तर है। दिगम्बरीय जैनोंकी मूर्ति नग्नमुद्रा युक्त होती है। आभूषण नहीं होते व नेत्रोंमें कांच के चक्षु (नेत्र) भी नहीं लगाते। स्वेताम्बरों की मूर्ति वस्त्राभूषण सहित होती है और उसके काचके चक्षु बिठाते हैं। ढूंढिया मूर्तिको सर्वथा ही नहीं मानते। ये भेद मूर्तिपूजाके भेदपरसे ही मालूम होते हैं। मैं जो परिचय देना चाहता हूं वह दिगम्बरीय पंथका है। जो कि अन्य दोनों पन्थोंका विशेष विरोधकारक नहीं है।

२ जैनधर्म के मुख्य तत्त्व।

दूसरा विभाग जैनधर्मके मुख्यतत्त्व नामका है। जैन-धर्ममें मुख्यतया। (१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा, और (७) मोक्ष ये सात तत्त्व माने हैं। तत्त्व शब्द का अर्थ,—"तस्य भावः तत्त्वम्" कहिये पदार्थ जैसा है उसका उसी प्रकार होना उसे तत्त्व कहा है। मोक्षतत्त्वका महत्त्व बहुत कहा गया है। मोक्ष का लक्षण "कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः" कहिये समस्त कर्मोंके नाश करनेको मोक्ष कहा है। इस शरीर में रहकर चक्रवर्त्तिपणेके ऐहिक सुख भोगनेको मिलें अथवा स्वर्गमें इन्द्रपदको प्राप्त होकर अनेक प्रकारके शारीरिकसुख मिलें तो भी वे नाशवन्त हैं, अन्तमें दुःखदायक हैं क्योंकि मृत्यु अवश्य होना है। मृत्युरूपी दुःखके साम्हने सब सुख विसर जाते हैं। जन्म और मरण ये दो बड़े दुःख हैं। ये दुःख जबतक नष्ट नहीं हुये, तबतक प्रकृतसुख (सच्चा

सुख) नहीं है। शरीरसम्बन्धी जितने सुख हैं, वे सब क्षणिक हैं, अन्तमें दुःखदायक हैं; इस कारण उनको सुखाभास नामसे कहा है। प्रकृतसुख (सच्चासुख) उसे कहते हैं कि, कभी दुःख होय ही नहीं, सो ऐसा शाश्वतसुख संसार में नहीं है। केवल मात्र मोक्षपदमें ही प्राप्ति होता है। इसी कारण मोक्षतत्त्वका महत्व अधिकता के साथ दिखाया गया है। तथा मोक्ष किस प्रकार होता है उसी का उपदेश प्रत्येक जैन ग्रन्थमें किया गया है। ऐसा यह सर्वोत्कृष्ट मोक्ष इस सृष्टिमें जड़ और चैतन्यरूप दो प्रकारके पदार्थोंमेंसे किस पदार्थको प्राप्त होता है, इसका विचार करनेसे यह मोक्ष जड़ पदार्थको नहिं होकर चैतन्य कहिये जीवको ही प्राप्त होता है ऐसा निश्चय होता है। इस कारण 'जीव' भी एक तत्त्व है। "चेतनालक्षणो जीवः स च ज्ञानादिभेदात् अनेकधा भिद्यते" यह जीवतत्त्वका लक्षण है अर्थात् चैतन्य गुणके ज्ञान दर्शन आदि अनेक भेद किये जा सकते हैं सो यह चैतन्यगुण जिस पदार्थमें है, वह जीव नामा पदार्थ है। यह जीव पदार्थ शरीरादिक जड़ पदार्थोंसे मिला (एक क्षेत्रावगाही) रहता है, तबतक इसको मोक्ष प्राप्ति नहीं होती इस कारण 'अजीव' नामा एक तत्त्व माना गया है। जीवके लक्षणसे विपरीत जिसका लक्षण होय उसको अजीव कहते हैं। संसारमें जीव भ्रमण करता है, तबतक वह अजीव पदार्थोंसे (जड़ पदार्थोंसे) मिला हुआ रहता है, परन्तु अजीवमें मिलकर एक नहीं हो जाता। अपने चैतन्य स्वभावको लिये भिन्न ही रहता है। जैसे सोना अन्यान्य धातुओंके साथ मिल जाता है तो भी वह

---

१ वास्तवमें सुख तो नहीं है किन्तु भ्रमसे सुखसमान भासे उसको 'सुखाभास' कहते हैं।

अपने पीतादि गुणोंको लिये जुदा ही रहता है क्योंकि वह विशेष क्रियासे जुदा हो जाता है। इसीप्रकार जीव व अजीव एकत्र रहनेपर भी वे अपने भिन्न २ गुणपर्यायोंको लियेहुये जुदे ही रहते हैं। अजीवतत्त्वके पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, और काल ये ५ भेद किये हैं। जड़के परमाणु तथा परमाणुओंसे बने हुये स्कन्धोंको पुद्गल कहते हैं। जीव और पुद्गलको गमन करनेमें सहायक हो उसको धर्मद्रव्य कहते हैं। जैसे मछलीको चलनेकेलिये जल सहायक है। जीव और पुद्गलको किसी जगह ठहरने में सहायक हो, उसको अधर्मद्रव्य कहते हैं। जैसे,— पथिकको (रस्तागीरको) गर्मीके दिनों में वृक्षकी छाँह सहायता करती है। वस्तुओंको पलटानेवाला व नयेसे पुराना होनेमें जो कारण हो, उसको कालद्रव्य कहते हैं और समस्त द्रव्योंको अवकाश देनेवाला आकाशद्रव्य होता है। इसप्रकार अजीव तत्त्वके पांच भेद हैं। अब तीसरा आस्रवतत्त्व है।

शुभाशुभकर्मद्वाररूप आस्रवः।

अर्थात् शुभ अथवा अशुभ कर्मबन्ध होनेके जो द्वार हैं उन्हें आस्रव कहते हैं। जिस प्रकार छिद्रवाली नौका जल में तैरती है तो उसमें उन छिद्रोंमेंसे जल भर जाता है। उसी प्रकार यह जीव अपने ज्ञानदर्शनगुणसे जिन २ पदार्थोंको जानता व देखता है और उन पदार्थोंमें राग द्वेष करता है तो कर्मबन्ध होनेके द्वार खुल जाते हैं। जिस समय जीवकी वृत्ति शुभरागद्वेषरूप होती है तब तो इसके शुभ आस्रव होता है और अशुभरागद्वेषरूप होनेसे अशुभ आस्रव होता है। जीवोंकी वृत्ति तीन प्रकारकी होती है। शुभ, अशुभ और शुद्ध। यद्यपि अशुभकी अपेक्षा शुभ वृत्ति श्रेष्ठ होती है

तथापि वह वृत्ति रागद्वेषरूप होनेसे मोक्षपदको नहीं पहुँचा सक्ती। यदि बहुत होय तो स्वर्गके सुखको अथवा इस लोक सम्बन्धी चक्रवर्ति आदि उच्च पदको प्राप्त कर सक्ती है। और अशुभ प्रवृत्ति तो जीवको नरकयातना पशुयोनिके दुःख व मनुष्यभवमें दारिद्य, व्याधि, वियोग कुरूप इत्यादि दुःख भोगनेका पात्र बना देती है। इन दोनोंसे इतर जो शुद्धवृत्ति है वही वास्तवमें कल्याणकारक है अर्थात् मोक्षपदको प्राप्त करनेवाली है। शुद्ध प्रवृत्तिमें रागद्वेष सर्वथा नहीं होता। कर्मोंकी मूलप्रकृति (भेद) आठ हैं। उनके नाम,—(१) ज्ञानावरणीय। (२) दर्शनावरणीय। (३) मोहनीय। (४) वेदनीय। (५) आयु। (६) नाम। (७) गोत्र और (८) अन्तराय हैं। इनमेंसे प्रत्येक कर्मको कारणभूत पृथक २ आस्रव होता है। जैसे,—ज्ञान के विषयोंमें अरुचि होना, ज्ञानवृद्धिमें विघ्न डालना, ज्ञानका आच्छादन करना, अन्यकी विद्वत्ताको सहन नहीं करना, इत्यादि कार्योंसे ज्ञानावरणीय कर्मका आस्रव होता है। उस प्रकार ही दर्शनसम्बन्धी कार्योंसे दर्शनावरणीय कर्मका आस्रव होता है। जैसे कि सर्वज्ञ प्रभुको, जिनवाणीको, मुनियोंके संगको, वा चार प्रकारके देवोंपर मिथ्या दोषारोपण करनेसे दर्शनमोहनीय कर्मका आस्रव (कारण) होता है और क्रोधादि कषायोंकी तीव्रतासे चारित्रमोहनीय कर्म का आस्रव होता है। अधिक आरम्भ करने व अधिक परिग्रह रखनेसे नरकायुके आस्रव होते हैं। कपट वा मायाचार रूप प्रवर्तनेसे तिर्यञ्च आयुका आस्रव होता है। अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहसे व कोमल परिणामोंसे मनुष्य आयुका आस्रव होता है। अज्ञानतासे इन्द्रियोंके दमन करनेसे, वा कुछ इन्द्रियदमन व कुछ विषय भोगोंकी

इच्छा रखनेसे, विना इच्छाके सुखदुःख भोगनेका प्रसंग आनेसे और अज्ञानपणेके तप करनेसे देवायुका ही आस्रव होता है। सम्यग्दर्शनसे देवोंमेंसे केवल मात्र कल्पवासी देवायुका ही आस्रव होता है। भवनवासी, ज्योतिषी और व्यन्तर इन तीन निकायोंमेंसे किसी भी देवायुका आस्रव नहीं होता। मन वचन कायको सरल नहीं रखनेसे व वृथा ही बकवाद करनेसे अशुभरूप नामकर्मका आस्रव होता है। और इसके विरुद्ध निष्कपट वृत्ति व मितभाषण करनेसे शुभरूप नाम कर्मका आस्रव होता है। शुद्ध श्रद्धान, पूर्णविनय, निर्दोष आचरण, निरन्तर विद्याभ्यास, संसार से भयभीत होना, यथाशक्ति दान देना, तप करना, साधुओं पर पूर्ण भक्ति होना, विपत्तिवालोंको सहाय करना, अरहंत आचार्य, बहुश्रुत व इनके द्वारा किये हुये उपदेशमें भक्ति रखना, छः प्रकारकी सामयिक प्रतिक्रमणादि क्रिया नित्य प्रति करना, ज्ञानका प्रकाश करना, स्वार्थत्याग करके धर्म का महात्य (प्रभाव) बढ़ाना, धार्मिक पुरुषोंमें प्रेम वा वात्सल्य रखना, इनकार्योंसे तीर्थंकर नाम कर्मका आस्रव होता है। अन्यकी निन्दा अपनी प्रशंसा करना, अन्यमें स्थित गुणोंको ढांकना, अपनेमें गुण नहीं होते भी गुणोंका प्रकाश करना, इनसे नीच गोत्र कर्मका आस्रव होता है। उत्तम कार्योंमें विघ्न करनेसे अन्तराय कर्मका आस्रव होता है। इसप्रकार अष्ट कर्मोंके आस्रव क्या क्या कार्य करनेसे होते हैं सो संक्षेपसे कहा। अब बन्धतत्त्वका स्वरूप कहा जाता है।

आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मकात्मेको बन्धः

आत्माके और कर्मोंके प्रदेश परस्पर प्रवेश होकर बन्ध (एक क्षेत्रावगाही) हो जाना उसका नाम बन्ध है। आत्मा

अपने में क्रोध मोहादि कषायों के व्याप्त होते ही कर्मबन्ध होने योग्य पुद्गलपरमाणुवोंको ग्रहण करता है। जिस प्रकार लोहे का तपा हुवा गोला पानीमें छोड़ने पर चारों तरफ से पानी को अपनेमें खींचता है, उसी प्रकार आत्मा कषाययुक्त होने पर चारों तरफ से कर्मपरमाणुवोंको ग्रहण करता है। उसीको कर्मबन्ध कहते हैं। कर्मबन्ध के चार भेद हैं। १ प्रकृतिबन्ध, २ स्थितिबन्ध, ३ अनुभागबन्ध, ४ प्रदेशबन्ध। प्रकृतिबन्ध,—जिस प्रकार मिष्ट, अम्ल, कटु, क्षार आदिक पदार्थों के भिन्न २ गुण हैं, उसी प्रकार ज्ञान को ढांकनेवाली, दर्शनको ढांकनेवाली, सत्यासत्य निर्णय नहीं करने देनेवाली, कुमार्गमें चलानेवाली, सुखदुःख करनेवाली आदि भिन्न भिन्न प्रभाव दिखानेवाली कर्मप्रकृतियां होती हैं। उनके मूल भेद आठ हैं। उत्तर भेद १४८ एकसौ अड़तालीस है। मूल भेदों के नाम.—(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु (६) नाम, (७) गोत्र, और (८) अन्तराय इस प्रकार आठ हैं। ज्ञानको ढांकनेवाली ज्ञानावरणीय, दर्शनको ढांकनेवाली दर्शनावरणीय सुखदुःखको करनेवाली वेदनीय, हिताहितमें श्रद्धान नहीं होने देनेवाली मोहनीय, पुनर्जन्म करनेवाली आयु, नाम देनेवाली (शरीरको उत्पन्न करनेवाली) नाम, ऊंच नीच भेद देनेवाली गोत्र और दान लाभ भोगोपभोगोंमें विघ्न करनेवाली अन्तराय ऐसी ये आठ प्रकृतियां हैं। इन आठ मूलप्रकृतियोंकी एकसौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियां हैं। उनके नाम कहने को बहुत समय चाहिये। इस कारण जिनको जानना हो वे तत्त्वार्थसूत्रके आठवें अध्यायमें देख लेवें। बन्धका स्थिति नामक जो दूसरा भेद कहा गया है सो ऐसा है कि, उपर्युक्त ज्ञानावरणीय वगैरह जो प्रकृतिबन्ध होता है

उसका अमुक कालपर्यंत आत्मा के साथ सम्बन्ध रहना, उसको स्थितिबन्ध कहते हैं। उस मुद्दतमें कर्मोंका फल मिलना सो अनुभाग बन्ध है। और आत्मा के समस्त प्रदेशों में ज्ञानावरणीयादि नामोंके अनुसार कर्मोंके अनन्तानन्त प्रदेश (परमाणु) सूक्ष्मपणेसे एकत्र होनेको प्रदेशबन्ध कहते हैं।

वेदान्तमें कर्मबन्धका स्वरूप संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध इस प्रकार कहा है, उसप्रकार जैनमतमें सत्ता, बन्ध, उदय ये तीन भेद किये हैं। पूर्व कालमें किये हुये कर्म जो मौजूद हैं और उनका फल भोगना बाकी है उनको कर्मकी सत्ता कहते हैं, नवीन कर्मके बन्धनको बन्ध कहते हैं। और पूर्वकालमें कियेहुए कर्मोंके फल भोगनेको उदय कहते हैं। इस प्रकार बन्धतत्त्व कहा। अब इससे अगला संवरतत्त्व कहा जाता है।

आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः।

पूर्वमें कहा हुआ जो आस्रवतत्त्व उसका निरोध करना कहिये उसको रोक देना उसका नाम 'संवर' है। जिस प्रकार छिद्रों वाली नौकामें छिद्रोंसे भरते हुये पानीको छिद्रोंमें कोई मसाला लगाकर रोक देना उसी प्रकार आत्मामें नवीन कर्मोंको नहीं आने देना सो संवरतत्त्व है। यह संवर तीन गुप्ति, पांच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषह, पांच चारित्र और बारह तप इनसे किया जाता है। मनको निश्चल करना, मौन धरना, और शरीरकी हलन चलनादि क्रियावोंको बन्द करना, सो तीन गुप्ति हैं। ये क्रियायें बहुत थोड़े काल तक करनेमें आती हैं, इस कारण हमेशाके लिये पांच समिति कही गई हैं। (१) ईर्यासमिति, चलते, फिरते, उठते, बैठते व सोते समय ऐसी

सावधानीसे प्रवर्तना कि जिससे किसी प्राणी को पीड़ा नहीं होय। (२) भाषासमिति,-वचन बोलनेमें हित, मित, सत्य और प्रियवचन बोलनेकी सावधानी रखना। (३) एषणासमिति,—अपने खाने पीनेमें अभक्ष पदार्थ न आवे, व अपने खानेपीनेसे अन्यको बोझा व कष्ट नहीं होवे, खाने पीनेसे आलस्य, प्रमाद, रोग उत्पन्न नहीं होवे इत्यादि सावधानी रखनेको एषणासमिति कहते हैं। अपने पीछी कमंडलु वगैरह उपकरण रखने उठानेमें किसी भी प्राणिको पीड़ा नहीं होवे, इस प्रकार यत्नपूर्वक प्रवर्तना सो आदाननिक्षेपणा समिति है। और मलमूत्रादि विसर्जन करने, थूकने, नाक साफ करने वगैरहमें स्थान देखकर जिसमें कि किसीको पीड़ा न हो ऐसी जगह क्षेपण करना सो उत्सर्गसमिति है। इन पांच समितियोंसे संवर (आतेहुये कर्मोंका निरोध) होता है।

अब दश धर्मोंसे जो संवर होता है वे दश धर्म ये हैं:-(१) क्षमा, (२) मार्दव कहिये गर्वका त्याग, (३) आर्जव कहिये निष्कपटपणा, (४) सत्य, (५) शौच कहिये परधन व परस्त्रीमें निर्लोभता, (६) संयम कहिये इन्द्रिय और मन को वशमें रखना, (७) तप[१] कहिये इच्छाको रोकना, (८) त्याग कहिये यथायोग्य दान देना, (९) अकिंचन्य कहिये अपने पास कुछ भी नहीं रखना, (१०) ब्रह्मचर्य कहिये स्त्रीका त्याग करना-इन दश धर्मोंसे संवर होता है। इसी प्रकार

---

१ इसके बारह भेद हैं १ उपवास करना, २ भूख से न्यून (कम) भोजन करना ३ खानेपीनेके पदार्थोंकी संख्या बांधना ४ खानेपीनेमें रसोंको त्याग करना ५ एकान्त स्थानमें ध्यान धरना व सोना ६ शरीरिक कष्ट सहना ये छ प्रकार के बाह्य तप हैं और १ प्रायश्चित्त लेना २ बिनयसे प्रवर्त्तना ३ आचार्योंकी शुश्रूषा करना ४ स्वाध्याय करना ५ शरीरसे ममत्व छोडना और ६ ध्यान धरना ये छ अन्तरंग तप हैं।

द्वादश अनुप्रेक्षावोंसे (भावनावोंसे) भी संवर होता है। वे द्वादश अनुप्रेक्षा ये हैं,—

यह शरीर, स्त्री, पुत्र, धनादिक नाशवंत हैं, अपने साथ कोई भी नहीं जानेका इस प्रकार बारंबार चिन्तवन करना सो पहिली अनित्यानुप्रेक्षा है। इस संसारमें दुःखोंसे वा मृत्युसे छुडानेवाला एकमात्र धर्मके सिवाय अन्य कोई भी समर्थ नहीं है, इस प्रकार बारंबार चिन्तवन करना सो दूसरी अशरणानुप्रेक्षा है। अनादि कालसे अनन्तवार संसार में जन्म मरण किया, अनेकबार नरकोंमें जन्म लिया, अनेकबार स्वर्गोंमें जन्मा, अनेकबार पशुयोनिमें जन्मा, और अनेकबार मनुष्यजन्म धारण किया परन्तु जन्ममरणके दुःखसे पार नहीं पाया इत्यादिक बारंबार चिन्तवन करना सो तीसरा संसारानुप्रेक्षा है। मैं अपने कर्मानुसार सुखदुःख भोगनेवाला अकेलाही हूं. मेरे बदलेमें सुखदुःख भोगनेवाला अन्य कोई भी नहीं है। इस प्रकार बारबार चिन्तवन करना सो चौथी एकत्वानुप्रेक्षा है आत्मासे यह शरीर भिन्न है, मोहके प्रभावसे इसको मेरा २ कहता हूं, इसी प्रकार स्त्री पुत्र धनादि भी मेरेसे भिन्न हैं इत्यादि चिन्तवन करना सो पांचवीं अन्यत्वानुप्रेक्षा है। यह शरीर सप्तधातुमय अत्यन्त दुर्गन्धमय है। इसको कितनाही धोवो व सुगन्धित पदार्थोंसे लिप्त करो, तो भी कदापि पवित्र नहीं हो सक्ता, उलटा इसके संयोग से सुगन्धमय पदार्थही नष्ट व अपवित्र होजाते हैं, ऐसा यह शरीर अपवित्र है इत्यादि चिन्तवन करना सो छट्ठी अशुच्यानुप्रेक्षा है। आस्रव जो है सो संसारिक दुःखोंका मूल कारण है इत्यादि चिन्तवन करना सो सातवीं आस्रवानुप्रेक्षा है। मेरे होनेवाले आस्रव किन २ उपायोंसे रुक सक्ते हैं इत्यादि चिन्तवन करना सो आठवीं संवरानुप्रेक्षा है। बंधे हुये

५. शरीर को कष्ट देकर दुःख (परिषह) सहने की आदत डालनी सो क्लेशनामा तप है। ६ ये छै प्रकार के बाह्य तप हैं। ऐसे ही छः प्रकार के अन्तरंग तप हैं। जैसे,—अपने किये हुये दोषों का योग्य दंड लेना सो प्रायश्चित्त तप है। १ यथायोग्य विनय सम्हालना सो विनयनामा तप है। २ रोगयुक्त मुनि वा श्रावक की शुश्रूषा (टहल) करना सो वैयावृत्यनामा तप है। ३ धर्मशास्त्र को पठनपाठन करना सो स्वाध्यायनामा तप है। ४ शरीर का छोड़ना सो व्युत्सर्ग नामा तप है। ५ एक ही ध्येय वस्तु पर एकाग्र चित रखना सो ध्याननामा तप है। इन बारह प्रकार के तपों से संवर होता है। इस प्रकार संवर तत्त्व कहा है। अब छठा निर्जरातत्त्व कहा जाता है।

एकदेशकर्मक्षयलक्षणा निर्जरा.

कर्मोंका अंशतः (एकदेश) नाश करना सो निर्जरा है। इस निर्जराके दो भेद हैं। एक सविपाक निर्जरा और एक अविपाक निर्जरा। कर्मों के फल भोगे पीछे कर्मोंका नष्ट होना अर्थात् आत्मासे संम्बध छूट जानासो सविपाक निर्जरा है। और कर्मोंके फल भोगने का काल तो अभी आया नहीं और उससे पहिले ही उदय में लाकर नष्ट कर देना सो अविपाक निर्जरा है। कर्मोंका कुछ क्षय होता है कुछ वैसे ही मौजूद रहते हैं इस कारण अंशतः नाश होनेका नाम निर्जरा कहा है। इस प्रकार निर्जरा तत्त्वका वर्णन किया। अब मोक्ष तत्त्व का स्वरूप कहता हूं।

कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः

सम्पूर्ण कर्मोंके नाश होने को मोक्षतत्त्व कहते हैं। इस को ही मोक्ष का लक्षण कहते हैं। यहां शरीर नष्ट होकर केवल मात्र अनन्त ज्ञानदर्शनमय आत्मा ही रहता है। इस

प्रकार सप्त तत्त्वोंका स्वरूप कहा। अब व्याख्यान का तीसरा भाग उपदेशका क्रम है सो कहा जाता है।

उपदेश का क्रम

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिल कर ही मोक्षमार्ग है, ऐसा समस्त उपदेशों के ग्रंथों में वर्णन किया है। इन ही तीनों को रत्नत्रय भी कहते हैं। इनमें से पहिला जो सम्यग्दर्शन है उसका लक्षण ऐसा है "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" कहिये जीव अजीवादि जो साततत्त्व पहिले कहे गये, उनका जो यथार्थ श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। इस ही प्रकार निर्दोष व सर्वज्ञ होकर जो आगम-का कर्ता है अर्थात् हितोपदेशी है वह तो परमेश्वर है, ऐसा मानना व उस परमेश्वर के कहे हुए पूर्वापर विरोधरहित तत्त्वों को उपदेश देनेवाले, व कुमार्ग का नाश करनेवाले जो शास्त्र हैं उनको ही आगम मानना और विषयोंकी वासना छोड़कर निरारंभ व परिग्रहरहित होकर ज्ञान ध्यान और तपश्चरण में निमग्न रहनेवाले को गुरु मानना इसको सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसे श्रद्धानसहित जो संशय विपर्यय रहित यथार्थ ज्ञान हो, उसको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्य-ग्दर्शन सम्यग्ज्ञान जिसको होगया हो, वह अपने आचरणों को शुद्ध रक्खे। उस को सम्यक्चारित्र कहते हैं। इस सम्य-क्चारित्र के दो भेद हैं। एक सकल चारित्र और विकल चारित्र। सकल चारित्र तो साधु पदवीमें (मुनि अवस्थामें) पाला जाता है और विकल चारित्र गृहस्थावस्था में पाला जाता है। इनमें से पहिले गृहस्थ का चारित्र कह कर फिर मुनि का चारित्र कहूंगा।

अभी कहा जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान गृहस्थको

प्राप्त हो जाय और सम्यक्चारित्र धारण नहीं किया होय तो उस गृहस्थ को अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। अभी तक उसको श्रावक नहीं कहा जा सकता। जब वह चारित्र धारण करैगा, तब ही उसको श्रावक नाम प्राप्त होता है। श्रावक को देशव्रती भी कहतें हैं। देशव्रती इस कारण कहा जाता है वह पूर्णतया व्रत नहीं पाल सकता, इस कारण वह अंशतः व्रत पालता है अर्थात् यथाशक्ति थोड़ा व्रत पालता है। देशव्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमा कहिये ११ कक्षायें (दरजे) हैं। जैसे वह अपने आचरण दिनोंदिन सुधारता जायगा उसी प्रकार वह उपरि २ की कक्षा में (दरजोंमें) चढ़ता जायगा.

पहिली कक्षा का नाम दर्शनप्रतिमा है। इस कक्षामें उसको अपना सम्यग्दर्शन २५ दोष रहित करना चाहिये। तथा जूआ खेलना १। मांस भक्षण २। मद्यपान ३। वेश्यारमण ४. शिकार ५. चोरी ६ और पर-स्त्री सेवन इन सात विसनों को भी छोड़ना चाहिये। इसी को ही पहिली कक्षा अर्थात् दर्शनप्रतिमा कहते हैं।

दूसरी कक्षायें पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार १२ व्रतों का अतीचार रहित (निर्दोष) पालना चाहिए। पांच अणुव्रत कहिए,—संकल्पी स्थूलहिंसा का त्याग करना अर्थात् जान बूझ कर हिलते चलते (द्वि इंद्रिय ते इंद्रिय चौ इंद्रिय पंचेंद्रिय) जीवों का वध नहीं करना वा कह कर नहिं करवाना सो अहिंसा नामा अणुव्रत है। इस व्रत के पांच अतीचार (दोष) हैं। १ जीवों के अवयवों को तोड़ना. २ जीवों को बांधना. ३ लकड़ी वगैरह से मारना पीटना. ४ उसकी शक्तिसे बाहर काम लेना. और ५ उसके खान पान का रोकना. ये पांच

दोष टालकर अहिंसा अणुव्रत धारण करना चाहिये। दूसरा स्थूल असत्यत्याग नामका अणुव्रत है। इसके भी पांच दोष (अतीचार) हैं। १ दूसरेका दोष कहना, २ दूसरे की गुप्त वार्ताको प्रगट कर देना, ३ चुगली व निंदा करना, ४ झूठी दलील खतपत्र लिखना, ५ हिसाबमें कोई भूल गया हो तो उसको नहीं बताना, ये पांच दोष टालनेसे निर्दोष सत्याणुव्रत पलता है। तीसरा अचौर्य नामा अणुव्रत है। स्थूल चोरीके त्याग करनेको अचौर्यनामा अणुव्रत कहते हैं। अर्थात् किसीका रक्खा हुवा, पड़ा हुवा, भूला हुवा, धरोहर रक्खा हुआ, परका द्रव्य ग्रहण करना सो चोरी है। इसके भी पांच दोष हैं। १ चोरीका उपाय बताना, २ चोरीका माल लेना, ३ राजाकी आज्ञाके विरुद्ध चलना, ४ देने लेनेके बाँट तराजू वा गज वगैरह न्यूनाधिक रखना, ५ उच्च मूल्यकी वस्तुमें कम मूल्यकी वस्तु मिलाकर व उसका स्वरूप छिपा कर बेचना। इन पांच दोषोंको टालनेसे तीसरा अचौर्यनामा अणुव्रत निर्दोष पलता है। चौथा परस्त्रीसेवन त्यागनामा अणुव्रत है। इसके भी पांच दोष हैं। १ दूसरेका विवाह करना, २ अनङ्गक्रीड़ा करना, ३ अश्लील वचन बोलना, कामसेवनमें अतिशय आशक्ति रखना, ५ व्यभिचारिणी स्त्रियोंसे किसी प्रकारका व्यवहार रखना। इन पांच अतीचारोंको टालनेसे चौथा व्रत निर्दोष होता है। पांचवां अणुव्रत परिग्रह परिमाण नामका है। अपने भोगोपभोगमें आनेवाले पदार्थोंका परिमाण (संख्या) करके उससे अधिकका त्याग करना व आयकी अपेक्षा व्यय नहीं करना सो परिग्रहपरिमाणनामा अणुव्रत है। इसके पांच अतीचार ये हैं—१ लोभके कारण शक्तिसे अधिक काम लेना, २ अनावश्यकीय वस्तुओं का संग्रह करना वा अधिक संग्रह करना, ३ अन्यका वैभव

(संपदा) देखकर आश्चर्य करना, ४ अधिक लोभ रखना, ५ अधिक बोझा लादना, इस प्रकार पांच अतीचार टालनेसे पांचवाँ अणुव्रत निर्दोष पलता है। इसी प्रकार मद्य, मांस और मधु इन तीनोंके खानेका त्याग करनेसे श्रावकके आठ मूल गुण होते हैं। पांचों अणुव्रतोंके अतीचार (दोष) जो कहे गये हैं सो कदाचित् नहीं भी टलें तो उससे व्रत का भङ्ग (नाश) नहीं होता। जिस प्रकार धुले हुये निर्मल वस्त्र में काला व मैला छींटा पड़ जाय तो वह वस्त्र मलीन हो जाता है, इसी प्रकार इन दोषों के लगनेसे व्रत मलीन हो जाते हैं, किन्तु व्रतपणा (श्रावकपणा) नहीं चला जाता।

इनके पश्चात् तीन गुणव्रत हैं। वे ये हैं—१ दिग्व्रत, २ अनर्थदण्डविरति और भोगोपभोगपरिमाण। दिग्व्रत कहिये पूर्व पश्चिम वगैरह दश दिशाओंमें इतने कोशोंसे आगे जाऊंगा नहीं, इस प्रकार प्रतिज्ञा करनेको दिग्व्रत कहते हैं। इसके भी पांच अतीचार हैं। १ करी हुई मर्यादा से ऊँचा चढ़ना, २ नीचा उतरना, ३ तिरछे जाना, ४ क्षेत्र की मर्यादा बढ़ा लेना और ५ मर्यादाओंको भूल जाना। अनर्थदण्डविरति कहिये करी हुई मर्यादामें भी बिना कारण व्यर्थ पाप कार्यों का नहीं करना है। जैसे अपना हित अहित नहीं है तो भी अन्यको पापकारक उपदेश देना, अथवा हिंसा करने के शस्त्रादि उपकरण देने, खोटी बातों का चिन्तवन करना, कुकथा व कुवार्त्ताओंको बांचना, सुनना व प्रमादसे प्रवर्त्तना इत्यादि अनर्थदण्ड है। इनसे विरक्त होना सो अनर्थदण्ड विरति नामका दूसरा गुणव्रत है। इसके भी पांच अतीचार हैं। १ अश्लील वचन बोलना, २ लज्जा कर चिन्ह लिखना व लज्जा कर अपनी चेष्टा करना, ३ व्यर्थ बकवाद करना, ४ अनावश्यकीय उपभोगोंकी सामग्री बढ़ाना,

५ कामका अन्दाजा नहीं करके अधिक करना। इन पांच अति-चारोंको (दोषोंको) टालनेसे अनर्थदण्डविरति नामका गुणव्रत निर्दोष पलता है। तीसरा गुणव्रत भोगोपभोगपरिमाण है। अन्न, जल, गन्ध, पुष्प इत्यादि भोग्यरूप पदार्थोंको तथा वस्त्र, आभूषण, घर, बिछौना, सवारी वगैरह उपभोग्य पदार्थोंको परिमाण करना, तथा कंद, मूल, कांदे मक्खन, निम्बूके फूल, केतकीके फूल वगैरह नहीं खाना व जो अपनी प्रकृतिको नहीं माने ऐसे पदार्थोंका त्याग करना सो भोगोपभोगपरिमाण नामा तीसरा गुणव्रत है। इसके पांच अतीचार हैं—१ विष-योंमें चाहना व आदर, २ पहिले भोगे हुये विषयोंको याद करना, ३ विषयभोगनेमें अतिशय आसक्तता, ४ आगामी विषय सेव-नमें अतिशय तृष्णा रखना और ५ विषय नहीं भोगते हुये भी विषय भोग रहा हूं ऐसा अनुभव करना। इन पांच अती चारोंको टालनेसे तीसरा गुणव्रत निर्दोष पाला जाता है।

अब चार शिक्षाव्रत जो कह गये हैं, उनके नाम ये हैं—देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और दान। दिग्व्रत में करी हुई मर्यादा, देश, नदी, पर्वत, बाजार, गली आदिसे संकोच करके वर्ष, ऋतु, अयन, मास चतुर्मास, पक्ष, दिन वगैरह कालसे मर्यादा करना, अर्थात् क्रम क्रमसे महाव्रतोंकी तरफ बढ़ानेसे देशावकाशिक व्रत होता है। इसके भी पांच अतीचार हैं। १ मर्यादा से बाहर मनुष्य को भेजना, २ शब्द करके इशारा करना, ३ मर्यादा के बाहर से कुछ मगाना, ४ अपने को दिखाकर कुछ सूचना करना, ५ मर्यादा से बाहर किंकरी वगैरह फेंककर इशारा करना, ये पांच अतीचार टालने से देशावकाशिक व्रत निर्दोष पलता है।

दूसरा सामायिक शिक्षाव्रत है। प्रातःकाल सन्ध्याकाल व मध्याह्न इन तीन समयोंमें अमुक समय पर्यंत बैठनेकी प्रतिज्ञा

करके उतना काल एकान्तमें बैठकर अथवा खड़ा रहकर, एकाग्रचित्तसे रागद्वेष छोड़ सर्वज्ञ प्रभुके गुणोंका चिंतवन स्मरण करने, धर्मपुस्तक बांचने और ध्यान करनेको सामायिक कहते हैं। अपने हाथसे जो कुछ दुष्कृत्य हो गया हो अथवा किसीको कटु शब्द कहा हो, अथवा मनमें खोटा (बुरा) चिंतवन किया हो तो उसको स्मरण करके मुखसे उच्चारण पूर्वक उसके बदलेमें पश्चाताप करना इसको प्रतिक्रमण कहते हैं। यह एक सामायिकका ही भाग है। तथा फिर ऐसा कभी नहीं करूंगा इस प्रकार अन्तःकरणसे कहना सो प्रत्याख्यान कर्म है। यह भी सामायिकका एक भाग है। सामायिकसे अन्तरंग शुद्ध होता है, यह एक बड़ा प्रायश्चित्त है। भगवानके गुणोंका स्तवन करना, चारों दिशाओंमें तीन २ बार नमस्कार करना, शरीरपरसे ममत्व छोड़ना, ये सामायिकके छव विभाग हैं। इनको षडावश्यक क्रिया भी कहते हैं। सामायिकके पांच दोष हैं। मन वचन कायकी एकाग्रता नहीं होना, ३ सामायिकमें आदरका न होना, ४ तथा सामायिककी क्रिया व पाठका भूल जाना, ५ इस प्रकार पांच अतीचार हैं। इनके टालनेसे सामायिकशिक्षाव्रत निर्दोष पलता है।

आगे प्रोषधोपवास नामका तीसरा शिक्षाव्रत है। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी इन पर्व तिथियोंमें उपोषण (उपवास) करना अथवा एक बार भोजन करना तथा दिन रात एक जगह बैठकर धर्म पुस्तक बांचने व वैराग्य चिंतवन करनेमें विताना, इन तिथियोंके पहिले दिन दोपहरसे लगाकर पर्वतिथिके अगले दिनके दोपहर पर्यन्त उपवास करना व धर्म के विचारों में ही सब समय विताना अर्थात् १६ पहर का उपवास करना सो उत्कृष्ट प्रोषोधोपवास होता है। इसके

पांच दोष ये हैं,—१ न देख कर विना झाड़े बिछौना व संथारा विछा देना, २ मल-मूत्र का त्याग करना, ३ उपकरणादि लेना, ४ आवश्यक क्रियावों में आदर नहीं होना, ५ क्रिया का भूल जाना, इन पांच अतीचारों के टालनेसे निर्दोष प्रोषधोपवास बन जाता है।

अब चौथा शिक्षाव्रत दान व वैयाव्रत है। इसको अतिथिसंविभाग भी कहते हैं। योग्य पात्र को आहारदान, औषधदान, अभयदान और ज्ञानदान इनमें से जिसको जिसकी जरूरत हो उसको वही देना उसको दान कहते हैं। अपने दान देने से पात्र को आलस्य, प्रमाद, उनमतत्ता, रोग व पातक इत्यादि उत्पन्न होय तो वह दान नहीं है। इस कारण दान देने वालों को बहुत विचार करके दान देना चाहिये। इसके भी पांच दोष हैं। सदोष वस्तु में रख कर दान देना, १ सदोष वस्तु से ढक कर दान देना, २ आप दान नहीं देकर दूसरे को दान देनेको कहना, ३ मत्सर बुद्धिसे दान देना, ४ और योग्य समय टाल कर दान देना, ५ ये पांच अतीचार टालने से अतिथिसंविभागनामा शिक्षाव्रत (दान) निर्दोष होता है। इस प्रकार श्रावकके १२ व्रत कहे हैं सो इनको जो कोई तीन शल्यरहित निर्दोष पालन करता है उसको दूसरी प्रतिमा का धारक श्रावक कहते हैं।

तीनशल्य,—मायाशल्य १, मिथ्यात्त्वशल्य २, और निदानशल्य। मन में कपट को गाड़ रखना सो मायाशल्य है। मन में अयथार्थ (मिथ्या) श्रद्धान को गाड रखना सो मिथ्यात्वशल्य है और इस कार्य से मुझे अमुक फल मिलना चाहिए इस प्रकार मन में अंकित कर रखना सो निदाननामा तीसरा शल्य है। इन तीन शल्यों को छोड़ता है वह ही व्रती श्रावक होता है।

व्रती श्रावकको मरण समय अन्त सल्लेखना करनी चाहिए, अर्थात् अब हम बचनेके नहीं, हमको मृत्यु अवश्य आवैगी ऐसा निश्चय हो जाने पर अपने इष्टमित्र व स्त्री पुत्रादिकों पर स्नेह ममता छोड़ना चाहिए तथा जो कोई अपना शत्रु हो, उससे द्वेषभाव छोड़ कर उसको अपने पास बुला कर उससे क्षमा मांगनी, तथा आप भी उसके दोषोंकी क्षमा कर देनी, घरद्वार चीज वस्तु वस्त्राभूषणादिक पर ममत्व छोड़कर किसीका रुपया पैसा देना हो तो देकर उसको सन्तोषित करना चाहिये, तत्पश्चात् जो कुछ अपने पास धन रहे, उसमें लड़के स्त्री, नौकर, चाकर वगैरह को जो कुछ देना हो सो दे देवे और धर्म कार्योंमें जो कुछ देना हो सो दे देवैं, तत्पश्चात् अपने जन्म मरण के किये हुए कार्यों को स्मरण करके उनका विचार करना अर्थात् अपने हाथसे जो जो कार्य अनुचित हुए हों, उनके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये, फिर मृत्यु का शोक व भय नहीं करके, हाय तोबा नहीं करके धैर्यावलम्बन पूर्वक शान्त चित्त होकर धर्मरूप वाक्य श्रवण करना चाहिये, आहार भी क्रम २ से छोड़ते जावें-फिर आहारके बदले कांजी पीकर रहे, फिर क्रमसे कांजीको छोड़कर केवल मात्र उष्ण जल पीकर ही रहे, जब मरण अत्यन्त निकट समझै, तब उष्ण पानीका भी त्याग करके उपोषित रहना और पंचनमस्कार मन्त्रका जाप्य करता करता शान्त परिणामों से प्राण छोड़ना इसीको सल्लेखना कहते हैं। इसके भी पांच अतीचार (दोष) हैं। १ अधिक दिवस जीने की इच्छा करना, २ शीघ्र मरनेकी इच्छा करना, ३ दुख व मरण से भय करना, ४ इष्टमित्रों का स्मरण करना और ५ अपने कृत्यों के बदलेमें किसी प्रकार की फलप्राप्ति के लिए इच्छा रखना। इन पांचों

अतीचारों के टालने से सल्लेखना व्रत निर्दोष होता है। सल्लेखना सहित जिसका मरण होता है, उसकी मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

तीसरी कक्षा का नाम सामायिक प्रतिमा है। शिक्षाव्रत में जो सामायिक कही गई है उसको प्रति समय निर्दोष (अतीचार रहित) पालना सो सामयिक प्रतिमा नामकी तीसरी कक्षा है। चौथी कक्षा प्रोषधप्रतिमा नामकी है सो व्रतों में जो प्रोषधोपवास कहा है उसको अतीचार रहित धारण करना सो प्रोषधप्रतिमा है। पांचवीं सचित्तत्याग नामकी कक्षा है। इस कक्षा में फल, शाक, मूले, कंद, शाखा, बीज और पुष्प इत्यादि पदार्थोंको बिना सेके-बिना पके व बिना शिजाये खानेका त्याग करना सो सचित्तत्याग प्रतिमा है। छट्टी प्रतिमा रात्रिभुक्तित्याग नामकी है सो सूर्यास्त हुये पीछे सूर्योदय पर्यन्त रात्रिमें खाना, पीना, चाटना, वे पानसुपारी खाने वगैरह चार प्रकारके आहारका त्याग करना सो रात्रिभुक्तित्याग नामक छट्टी कक्षा है। सातवीं कक्षा ब्रह्मचर्य प्रतिमा है—अर्थात् अपनी स्त्री से भी संभोग करनेका त्याग करना है और कामविकार के वशीभूत नहीं होना है। आठवीं कक्षा आरंभत्याग है--इस कक्षामें व्यापार, खेती, नोकरी वगैरह आरंभों का त्याग किया जाता है। नववीं कक्षा परिग्रहत्याग है। इसमें दश प्रकारके धनधान्यादि बाह्य परिग्रहपर ममत्व छोड़कर सन्तोषवृत्ति धारण करके रहना, उसको परिग्रहत्याग प्रतिमा कहते हैं। दशवीं कक्षा अनुमति त्याग नामकी है--आरंभ परिग्रह विवाहादिक सांसारिक कार्योंमें सम्मति देने का त्याग करना है। और उद्दिष्टत्याग वा क्षुल्लक नामकी अंतिम कक्षा है। इस कक्षामें-श्रावक अपने घरसे निकल मुनिके पास जाकर व्रत ग्रहण करके भिक्षावृत्तिसे रहता है,

कोपीन वा एक छोटेसे वस्त्र सिवाय दूसरा कोई भी वस्त्र नहीं रखो और तपश्चरणमें ही कालक्षेप करे ॥ इस प्रकार ये श्रावकी ११ कक्षा वा दरजे हैं। उपरि की कक्षामें रहनेवालों-को निचली समस्त कक्षावोंके गुणधारण करने चाहिये, व क्रम २ से उपरि की कक्षामें (दरजोंमें) चढ़ना चाहिये।

क्रियाकोषादि ग्रन्थों में श्रावककी त्रेपन क्रिया कही है, वे इस प्रकार हैं: आठ मूलगुण, बारह व्रत, बारह तप, एक-साम्यभाव, ग्यारह प्रतिमा, चार दान, एक जल छानकर पीना, एक रात्रिभोजन त्याग, एक सम्यग्दर्शन, एक सम्यग्ज्ञान, एक सम्यक्चरित्र, इसप्रकार सब मिलकर त्रेपन क्रिया होती हैं। इनका व्योरा पहिले कहा ही गया है।

गृहस्थके प्रति दिनके षट कर्म कहे गये हैं, वे ऐसे हैं। १ इज्या, २ वार्ता, ३ दत्ति, ४ स्वाध्याय, ५ संयम और ६ तप इज्या कहिये प्रतिदिन देव गुरु शास्त्र की पूजा करना। वार्ता कहिये, असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और पशु पालन इन छः प्रकार के धंधोंको करके उपजीविका करना, असि कहिये तरवार बंदूक वगैरह हथियार (शस्त्र) धारण करके राज्यकी व्यवस्था करना, मसि कहिये लिखनेका व लिखने वांचनेके सिखानेका धंधा करना, शिल्प कहिये लुहारका काम, चित्रकला, यन्त्रकला आदिक करना, कृषि कहिये खेती का काम करना और पशुपालन कहिये गोवा-लपनेका धंधा करना ये छः प्रकारके धंधे करके निर्वाह करना चाहिये। उद्योग वा आजीविका किए विना आलस्यमें बैठे नहीं रहना चाहिए। जहांतक बने, अपने निर्वाहका बोझा दूसरे पर नहीं पड़ने देना चाहिये। राज्य करनेवालोंको आत्मपालन कहिये अपने प्रान्तोंकी रक्षा करनी चाहिये, मतिपालन कहिये अपनी बुद्धिको निर्मल रखना, कुलपालन कहिये राज-

कुलकी रक्षा करना, और प्रजापालन कहिये पुत्रकी समान अपनी प्रजाकी रक्षा करना वा दुष्टोंका निग्रह करना है। दत्ति कहिये चार प्रकारका दान देना, स्वाध्याय कहिये-ज्ञानवृद्धिकेलिये निर्दोष शास्त्रोंको पढ़ते पढ़ाते रहना वा उपदेश देना आदि है। संयम कहिये पंचेन्द्रियोंको व मनको वशमें रखना और तप कहिये अनसनादिक तप धारण करना।

इनके अतिरिक्त गर्भाधानादिक त्रेपन क्रिया गृहस्थ श्रावकोंके लिये महापुराणमें कही गई हैं, उनके नाम व लक्षण भी संक्षेपतासे कहे जाते हैं।

१। गर्भाधानक्रिया—स्त्री ऋतुवती होने पर छठे दिन उसको स्नान कराकर पतिके साथ देवपूजा करवानी और संतानप्राप्तिके अर्थ रात्रि में सहवास करना ऋतुकालके विना सहवास नहीं करना चाहिये।

२। प्रीतिक्रिया—गर्भके तीसरे महीने में गर्भिणीके चित्तप्रसन्नार्थ पूजा उत्सव करना वादित्र बजावने।

३। सुप्रीतिक्रिया—गर्भके पांचवें महीने में भी पूजा उत्सव करना।

४। धृतिक्रिया—सातवें महीने गर्भवृद्धिके लिये पूजा उत्सव करना।

५। मोदक्रिया—नववें महीने गर्भपुष्टिके लिये गर्भिणी के शरीर पर मन्त्रपूर्वक बीजाक्षर लिखना व रक्षाबन्धन करना।

६। प्रियोद्भवक्रिया—प्रसव होने पर पूजा उत्सव करना।

७। नामकर्म—बारवें दिन गुरु और गृहस्थाचार्यकी पूजा करके बालकों का नाम रखना।

८। बहिर्यान—दूसरे तीसरे अथवा चौथे महीने लड़केको प्रसूति घरसे बाहर लाना।

९। निषधा—बालकोंको बिछौनेपर बिठाना।

१०। अन्नप्रासन—सात आठ महीनेका बालक होजाय तब उसको अन्नप्राशान (अन्नचखाना) कराना।

११। व्युष्टि—एक वर्ष हुए पीछे बाद दिवस करना। इष्टमित्र भाई बन्धुवोंको भोजन कराना।

१२। केशवाय—मुंडन करके शिखा (चोटी) रखना।

१३। लिपिसंख्यानसंग्रह—पांचवें वर्ष उपाध्यायके निकट ॐकार लिखनेको बिठावे। अर्थात् विद्याध्यायन प्रारंभ करावे।

१४। उपनीति—आठवें वर्ष गुरुके पाससे उसको अणुव्रत ग्रहण करवावे, गले में यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करावे और कमरमें कणदोरा बांधे और चोटीमें गांठ लगावे।

१५। व्रतचर्या—अणुव्रत पलवावे, ब्रह्मचर्यसे रखकर उपासका ध्ययन (श्रावकाचार) पढ़ावे, तथा अन्यान्य विद्यायें भी पढ़ावे, अर्थात् विद्याभ्यासमें समस्त समय वितावे।

१६। व्रतावतरण—विद्याभ्यास पूर्ण हुये बाद मुनि-दीक्षा लेनेकी सामर्थ्य होय तो मुनिदीक्षा लेनी। यदि मुनि-दीक्षा ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं होय तो गृहस्थपना स्वी-कार कराना। मद्य, मास, मधु पंच उदुंबर और हिंसादि पांच पापोंका त्याग करना ब्रह्मचारीका वेश पलटकर गृहस्थीका वेश धारण करना और छह प्रकारकी आजीविकाओंमें से जौनसी आजीविका अपनेको रुचै वही आजीविका करना।

१७। विवाहसंस्कार—विवाह करनेकी इच्छा होनेपर-

बड़ोंकी आज्ञानुसार बड़े कुलकी योग्य कन्या, देखकर अग्नि की शान्तिसे उसका पाणिग्रहण करना । तदनंतर दोनोंको सात दिन तक ब्रह्मचर्यसे रहना, तत्पश्चात् किसी भी तीर्थ-यात्रामें जाकर आवें, तब हाथमेंका कंकण-डोरा छोड़कर ऋतुकालके पश्चात् स्त्री सहवास करना, सशक्त पुरुषोंको ऋतुके समय महीनेमें एक बार ही स्त्री सहवास करना और असक्त जनों को शक्तिप्रमाण अधिक दिनोंके अन्तर से सहवास करना ।

१८ । वर्णलाभ—अपने पितादिक जो द्रव्य देवे, वह लेकर स्त्रीके साथ पृथक् रहना ।

१९ । कुलचर्या—पूजा, सब प्रकारसे उपजीविका दान, तप, स्वाध्याय और संयम पालता हुवा रहे ।

२० । गृहीशिता—गृहस्थाचार्य होनेकी इच्छासे ज्ञान, आचरण मंत्र इत्यादि बातों से अन्योंकी अपेक्षा श्रेष्ठ होना चाहिये ।

२१ । प्रशान्ति—अपने पुत्रोंपर गृहस्थपनेका भार सौंप कर घरसे विरक्त होवे ।

२२ । गृहत्याग—पुत्र गृहस्थाचारको भले प्रकार चलाने लग जाय तब गृह छोड़ना ।

२३ । दीक्षाद्यक्रिया—श्रावककी ग्यारहवीं क्षुल्लक प्रतिमा धारण करवाना ।

२४ । जिनरूपता—वस्त्र त्याग करके निर्ग्रन्थ मुनिकी दीक्षा लेनी ।

२५ । मौनाध्ययनव्रत—शास्त्र का अभ्यास करते समय मौनसे रहना अर्थात् पढ़ने के सिवाय अन्य व्यवहार संबंधी

वार्तालाप नहीं करना। गुरु के पास आचरांगादि सूत्रों का अध्ययन करना।

२६। तीर्थंकरभावना—दर्शन विशुद्ध्यादि १६ भावनावों का अभ्यास करना।

२७। गुरुस्थापनाभ्युपगम—आचार्यपदका काम करना।

२८। गणोपग्रहण—उपदेश देना, प्रायश्चित्त देना।

२९। स्वगुरुस्थानसंक्रांति—आचार्य पदवी स्वकिार करनी।

३०। निःसंगत्वात्मभावना—आचार्य पद शिष्यको देकर आप एकाविहारी होना।

३१। योगनिर्वाणसंप्राप्ति—चित्तकी एकाग्रता करनेका उपाय करना।

३२। योगनिर्वाणसाधन—सम्पूर्ण आहार छोड़ कर तथा शरीर पर ममता छोड़ कर ध्यान धरना।

३३। इंद्रोपपाद—मरकर इन्द्रपदमें जन्म होना।

३४। इन्द्राभिषेक—इन्द्रासन पर बैठ कर अभिषिक्त होना।

३५। विधिदान—अन्यों को विमान व ऋद्धि वगैरह देना।

३६। सुखोदय—इन्द्रपद का सुख भोगना।

३७। इन्द्रपदत्याग—इन्द्रपद का त्याग करना।

३८। गर्भावतार—तीर्थंकर होनेको गर्भमें आना।

३९। हिरण्यगर्भ—गर्भ में रहते हुए रत्नवृष्टि होना।

४० । मंदरेन्द्राभिषेक—तीर्थकरका जन्म होना व उसको मेरु पर्वत पर लेजाकर अभिषेक करना ।

४१ । गुरुपूजन—तीर्थंकर स्वयं गुरु हैं, इस कारण देवतावोंकर उनकी पूजा होना ।

४२ । यौवराज—युवराज पद मिलना ।

४३ । स्वराज्य—पृथ्वी का राज्य करना ।

४४ । चक्रलाभ—नवनिधि व चौदहरत्न मिलना ।

४५ । दिशांजय—छ खंड पृथ्वी जीतनेको निकलना ।

४६ । चक्राभिषेक—घर वापिस आने पर उत्सव करना ।

४७ । साम्राज्य—अपने आज्ञाकारी राजावों को प्रजा पालन करने के लिए ताकीद करना ।

४८ । निष्क्रान्ति—वैराग्य उत्पन्न होने पर पुत्र को राज देकर आप दीक्षा लेनी ।

४९ । योगसंग्रह—केवल ज्ञान होना, व ज्ञान तथा ध्यान का संयोग होना ।

५० । आर्हन्त्य—अष्टप्रतिहार्यादिसह समवसरण की रचना होना ।

५१ । विहार—धर्मोपदेशार्थ तीर्थंकरको बाहर होना ।

५२ । योगत्याग—तदनन्तर योगोंको रोकनेके लिए परिणामों की निवृत्ति करना ।

५३ । अग्रनिवृत्ति—निर्वाणपद को जाना ।

इस प्रकार ये गर्भाधानादि त्रेपन क्रिया श्रावक के गुणों को बढ़ाकर मोक्ष पदको पहुंचाती हैं । इस प्रकार यह श्रावकधर्म कहा गया है । अब यति-धर्म को कहता हूं ।

यति कहिये साधु अथवा मुनि हैं। श्रावक अपने आच-रणोंको सुधारता हुवा ग्यारह प्रतिमा तक पहुंचनेके पश्चात् गुरुके पास जाकर मुनिदीक्षा लेवे। मुनिके अट्ठाईस मूल गुण पालने चाहिये। वे इस प्रकार हैं,—अहिंसा, सत्य वगैरह पांच महाव्रत; इर्या, भाषा, एषणा वगैरह पांच समिति; सामायिक, प्रतिक्रमण वगैरह छ आवश्यक क्रिया पालनी; पांच इन्द्रियों-के विषय छोड़ने; वस्त्रत्याग, केशोंका लोंच करना, दिनमें एक बार भोजन करना; खड़े रह कर भोजन करना, पाणि-पात्रमें (हाथमें) भोजन करना, स्नान नहीं करना, दांतवन नहीं करना, इस प्रकार २८ मूलगुण धारण करनेवाला ही साधु होता है। साधुके (मुनिके) चौरासी लाख उत्तर गुण हुवा करते हैं। ये मूलाचार ग्रंथमें देखनेसे ज्ञात होसक्ते हैं। उत्तर गुण नहीं होय तो मुनिपनेमें न्यूनता नहीं होती, परन्तु मूल गुणोंमें हीनता होनेसे उसको साधु (मुनि) नहीं कहा जा सक्ता।

साधुको भोजनार्थ श्रावकोंके घर जाना चाहिये। श्रावक गृहस्थके द्वारपर जाते ही श्रावक उनको "पधारिये महाराज" इस प्रकार कहकर बड़े आदर सत्कारसे बुलावे तब भीतर जाना और जो कुछ भोजन दे सो नियमसे खाकर बाहर निकल आवे। यदि उस गृहस्थने आदर पूर्वक नहीं बुलाया हो तो उस घरमें नहीं जाकर दूसरे घर जावे। इस प्रकार पांच घर जावे। यदि पांच घरोंमेंसे कोई भी न पड़गाहे (बुलावे) तो आज उपवास है-ऐसा समझकर वापिस बनमें चले आवें और। ध्यान व स्वाध्यायमें तत्पर होवें। फिर दूसरे दिन उसी प्रकार पांच घरोंमें जावे। किसी से कुछ भी नहीं याँचे। उष्णकालमें पर्वत के शिखर पर, शीतकालमें नदी के किनारे वा चोहटे-

में और चतुर्मासमें वृक्षोंके नीचे बैठकर तपश्चरण करे। इस प्रकार मुनिका धर्म कहा है। इस प्रकार उपदेशका क्रम नामक व्याख्यानका तृतीय भाग पूर्ण हुवा। अब 'पुण्य पाप का स्वरूप' नामका चौथा भाग कहता हूं।

पाप पुण्यका स्वरूप।

मिथ्याश्रद्धान, हिंसा, असत्यभाषण, चोरी, व्यभिचार, (कुशील सेवन) वेहिसाबका परिग्रह, मोह, क्रोध, गर्व, कपट, लोभ, निंदा, आलस्य, प्रमाद, अभक्ष्यभक्षण वगैरह सब पापकर्म कहे गये हैं और दया, परोपकार, सौजन्य, दान, स्वार्थत्याग, ब्रह्मचर्य्य, गुणोंमें प्रीति, वात्सल्य, देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्राभ्यास, विनय, दुःखितको सहायता करना, षट् प्रकारकी आजीविकाओंमेंसे जौनसी अपने अनुकूल हो वही न्यायपूर्वक आजीविका (रोजगार) करना, निर्वाणभूमि की तीर्थयात्रा करना वगैरह पुण्यकर्म कहे गये हैं। स्नान करने से पुण्य नहीं होता। गृहस्थको शरीरकी स्वच्छता रखनेके लिये व स्वास्थरक्षाके लिये स्नान करना चाहिये। परन्तु किसी नदी विशेष व समुद्रके जलमें स्नान करनेसे पुण्य होता है, ऐसा कदापि नहीं समझना चाहिये। ग्रहण, संक्रांति आदि पर्वोंका भी कोई माहात्म्य नहीं कहा गया है। श्राद्ध, पक्ष, पिण्डदान, गौपूजा, तुलसीपूजा, बड़ पीपलकी पूजा वगैरह करनेमें भी पुण्य नहीं है। अब कर्मबन्धनका स्वरूप कहा जाता है।

कर्मबन्धनका स्वरूप.

जैनधर्मके मुख्यतत्त्व नामका जो दूसरा भाग पहिले कहा गया है उसमें बन्धतत्त्वका वर्णन किया गया है। उसमें इस भागका बहुतसा वर्णन आ गया है। चेतन कहिये आत्मा के अनादिकालसे कर्मबंधन होनेके कारण वह संसारमें परि-

भ्रमण करता रहता है। जिस समय कर्मबंधनका संपूर्ण तया नाश हो जायगा, उस समय वह चेतन मुक्त हुवा ऐसा समझना चाहिये। आत्माका देखना जानना ये स्वगुण हैं। इन गुणोंसे वह जिस २ पदार्थको देखता जानता है, उस २ पदार्थपर पूर्व कर्मोदयके कारण रागद्वेष करने लग जाता है। सो इसका रागद्वेषरूप परिणमन होना ही कर्मबन्ध है। अब मोक्षका स्वरूप व उसका उपाय नामका छट्ठा भाग कहता हूं।

मोक्षका स्वरूप व उसका उपाय

समस्त कर्मोंसे आत्माका छूटना सो ही मोक्ष है। ऐसा पहिले कहा गया है। आत्मा कर्मबंधनमें पड़ी हुई स्थितिमें से वह कर्मबंधनोंको ज्यों ज्यों नाश करता जाता है, त्यों त्यों आत्माकी अवस्था बदलती जाती है। इस अवस्था पलटने को गुणस्थान नामसे कहा गया है। गुणस्थान चौदह हैं।

पहिला मिथ्यात्व गुणस्थान है। इस गुणस्थानमें रहने वाला जीव समस्त कर्मबंधनों से पूर्णतया वेष्टित रहता है। वह अपना वास्तविक हित क्या है, सो नहिं जानता। किसी कारण से उसको अपना हित मालूम होने से उसी प्रकार श्रद्धा होती है। तब उसको तीसरा व चौथा गुणस्थान प्राप्त हो जाता है। चौथे गुणस्थानमें वह श्रद्धा निर्मल हो जाती है, इस कारण इसको सम्यक्त्वगुणस्थान कहते हैं। तीसरे गुणस्थान में श्रद्धान मैला व मिथ्यात्व से मिला हुवा होता है, इस कारण उसका नाम मिश्रगुणस्थान कहा गया है।

तीसरे तथा चौथे गुणस्थानसे आकर कभी कभी यह जीव पहिले गुणस्थान में चला जाता है. सो जब तक आत्मा पहिले गुणस्थानमें नहिं पहुंचे, तब तक उसको सासादन नाम का दूसरा गुणस्थान कहा गया है।

चौथे गुणस्थानपर्यन्त केवल मात्र यथार्थ श्रद्धा होती है सो बहुत है, आचरण कैसा ही क्यों न हो।

पांचवें गुणस्थानमें श्रावकके अहिंसा, सत्य, अचौर्य वगैरह अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत आदिक ग्यारह प्रतिमातक का आचरण होता है। यदि केवल मात्र एक अणुव्रत हो तो भी उसके पंचम गुणस्थान होता है और समस्त ग्यारह प्रतिमातकके व्रत पालनेवालेको भी पांचवाँ गुणस्थान रहता है। इसका नाम संयतासंयत गुणस्थान है।

आगे मुनिके महाव्रत पालने लगा कि उसको छट्ठा प्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं। यहां पर प्रमाद का दोष लगता रहता है, इस कारणही इसका नाम प्रमत्तसंयत गुणस्थान है।

वही प्रमाद दोष सातवें गुणस्थानमें नष्ट हो जाता है, इस कारण उसका नाम अप्रमत्त गुणस्थान है।

इसके आगे योगके साधनोंसे ध्यानकी एकाग्रता बढ़ती जाती है और कर्मबन्धनका नाश शीघ्रताके साथ होता जाता है, इस कारण आठवें गुणस्थानको अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं। भावार्थ—इस गुणस्थान कीसी चित्तवृत्ति पूर्वमें कभी भी नहीं हुई थी।

नवाँ अनिवृत्तिकरण नामका गुणस्थान है। यहां परिणामों में विशेष फेरफार नहीं होता।

दशवाँ गुणस्थान सूक्ष्मसांपराय नामका है। यहांपर सब कषायें सूक्ष्म हो जाती हैं।

ग्यारहवां गुणस्थानका नाम उपशांत मोह है. इसमें कषायों का उपशम होता है। इस गुणस्थानसे चिग कर छट्ठे सातवें गुणस्थानमें आ जानेकी भी संभावना होती है। (१)

(१) ग्यारहवें गुणस्थानसे मुनि नियमसे गिरता है और चौथे गुणस्थानतक आ जाता है।

बारहवें गुणस्थानमें मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय इन ४ घातिया कर्मोंका सम्पूर्णतया नाश करना होता है, इस कारण इसको क्षीणमोह गुणस्थान कहा है। इसमें शुक्ल ध्यानके चार खंडोंमेंसे पहिला पृथक्त्ववितर्कवीचार और दूसरे एकत्ववितर्कवीचार नाम के दोनों ध्यान होते हैं। पहिले ध्यानमें मन वचन काय तीनों ही योग देते हैं और दूसरेमें तीनोंमेंसे कोई एक।

इस एकाग्र ध्यानके बलसे तेरहवाँ सयोगकेवली नामका गुणस्थान होता है। यहांपर आत्मामें अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य प्रगट हो जाता है। यहां केवल ज्ञानके होते ही स्वर्गसे कुबेर इंद्रादिक आकर समवसरण रचते हैं। जिसमें द्वादश सभा (समाज) एकत्र होती हैं। केवली धर्मोपदेश देते हैं। ऐसी अवस्थामें अरहंत, परमेश्वर, भगवान्, सर्वज्ञ प्रभु इत्यादि नामोंसे इन्द्र चक्रवर्ती धरणेन्द्र आदिक सर्व लोग उनका स्तुति व पूजन करते हैं। तत्पश्चात् ये केवली भगवान् उस जगहसे अन्यान्य जगहोंमेंभी धर्मोपदेशके लिये विचरण करते हैं। इस प्रकार आयुपर्यंत धर्मोपदेश देकर आयुको निकट आई जान फिर शुक्ल ध्यानमेंका सूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्ति नामक तीसरा भेद (ध्यान) धारण करते हैं। इसके प्रभावसे आत्माके प्रदेश सबलोक में फैलकर फिर शरीरमें संकुचित हो प्रविष्ट हो जाते हैं। यहांपर केवलमात्र काययोग ही रहता है। फिर व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका चौथा ध्यान करते हैं।

यहांपर कोई भी ऐसा योग नहीं होता इस कारण इसको चौदहवाँ अयोगकेवलीगुणस्थान कहते हैं। इसमें आत्माकी एकाग्रता होकर देह विसर्जन होता है। शरीर कपूरकी तरह जहाँका तहाँ गलकर उड़ जाता है। इसीको ही निर्वाण

(मोक्ष) कहते हैं।

आत्मा निकलकर तीन लोकके अग्रभागमें सिद्धशिला नाम की जगह है वहां जाती है, फिर वहांसे किसी कालमें भी आना नहीं होता। ऐसी अवस्था होनेको ही मोक्ष कहते हैं। वहांपर अनंतानंत जीव अनादि कालसे हैं और अनंत काल-पर्यन्त ऐसे ही रहेंगे। इन सिद्धोंके आठ गुण कहे हैं। १ सम्यक्त्व २ अनंतज्ञान, ३ अनंतदर्शन, ४ अनंतवीर्य, ५ सूक्ष्म-त्व, ६ अवगाहनत्व, ७ अगुरुलघुता, और ८ अव्याबाधता इसप्रकार मोक्षका स्वरूप है। और मोक्षका उपाय सम्यग्द-र्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह रत्नत्रय है। इनका वर्णन पहिले किया ही गया है। तथा गुणस्थान जो चौदह कहे गए हैं, उनपर क्रम २ से चढ़कर मोक्षपद पहुँचना, यह ही उसका उपाय है। इस प्रकार व्याख्यान का छट्ठा भाग पूर्ण हुआ। अब सातवाँ भाग मूर्तिपूजा नामका है सो इस प्रकार है।

मूर्तिपूजा।

———:o:———

जिन महात्माओंने संसारसे निकलकर वैराग्यपद धारण किया और एकाग्र ध्यानके प्रभाव से गुणस्थानोंपर चढ़ते हुए कर्मबंधनोंको नष्ट करके सर्वज्ञ परमेश्वरपद प्राप्त कर-लिया है, उनके ध्यानकी मुद्रा अपनेको देखनेकेलिये प्राप्त हो तथा उनके सद्‌गुणोंकी स्मृति रखनेहीकेलिये उनके मूर्ति अथवा चित्र रचे जाते हैं। आजकल जैसे साधारण बड़े २ लोगोंके गुण स्मरण होते रहने के लिए उनका फ़ोटोग्राफ अपने घरपर व सभापाठशालादि प्रसिद्ध स्थानोंपर रक्खा करते हैं तथा उनकी मूर्ति बनाकरके भी बाग़ वगैरहमें रखते हैं, इसी हेतु से ही मूर्ति की पूजा होती है। मूर्तिकी पूजा

करते समय पत्थर वा साधु आदिकी स्तुति कोई नहीं करता है किन्तु वह जिस महात्माकी मूर्ति है, उनके गुणोंकी स्तुति व पूजा कीजाती है। और मूर्तीके स्वरूपको देखकर ध्यान करने की मुद्रा कैसी होती है, यह शिक्षा ली जाती है। मूर्ति खड़ी और बैठी दो प्रकार की होती है। खड़ी मूर्तिको कायोत्सर्ग कहते हैं। और बैठी मूर्तिको पद्मासन कहते हैं। दोनों ही प्रकार की मूर्तियोंमें ध्यानकी मुद्रा देखनेमें आती है। खड़ी मूर्तिके दोनों पांव नजदीक करके दोनों हाथ लंबे छोड़े हुए नेत्रोंकी अर्ध उन्मीलित दृष्टि नासाग्र भागपर रहती है। इसी प्रकार बैठी मूर्तिमें दोनों पांव एक दूसरेमें अटकाये हुये (पालथी मारे हुए) दोनों हाथोंके पंजे पांवोंके मध्यभागमें, एकपर एक रक्खे हुए, दोनों नेत्रोंकी अर्द्ध उन्मीलित दृष्टि नासाग्रपर रहै, इसप्रकारकी मूर्त्ति वस्त्रालंकारोंसे रहित होती है। तथा मूर्तिके पास स्त्री वा शस्त्रादिक कुछ भी नहीं रहना चाहिए। पूर्ण वीतरागस्वरूप व पूर्णतया एकाग्र ध्यानमुद्रा जैसी होनी चाहिये वैसी ही मूर्तिमें हुआ करती है।

योगाभ्यासकी उत्कृष्ट मुद्रा जैसी श्रीमद्भागवद्गीतामें कही गई है, वह पूर्णतया इस मूर्तिमें (जैनमूर्तिमें) ही दृष्टिगोचर होती है,—

भगवद्गीता अध्याय ६ में—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः॥
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः॥
मनःसंयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः॥
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

अर्थ—शरीर, मस्तक और गर्दन ये ठीक सीधी-

रखकर निश्चल होकर इधर उधरको न देखता हुआ स्थिर चित्तसे अपनी नासिकाके अग्र भागपर भले प्रकार दृष्टि रखकर अन्तःकरणको अतिशय निर्मल करके निर्भय होकर, ब्रह्मचर्य व्रतसे रहकर, मनका संयम करके, मुझमें चित्त "लगाकर" मैं ही सर्वस्व हूं ऐसा मनमें समझकर योगीरूप होकर रहै। इस प्रकार चित्तका निरोध करके जो सदा सर्वदा मनकी समाधि करता है, वह योगी मेरे पाससे सहायता पाकर निर्वाण शांतिको पाता है।

भगवद्गीता अध्याय ५ में—

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ॥
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनां ॥ २६ ॥
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ॥
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

अर्थ—जो काम क्रोधसे रहित हो गये, जिनकी कर्मों-पर आसक्ति छूट गई, जिनके चित्तका संयम हो गया, जिन्होंने आत्माका तत्त्व समझ लिया उनको सर्व प्रकारसे ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होता है।

बाह्य विषयोंका स्पर्श दूर छोड़कर दोनों भौंओंके मध्य भागमें दृष्टि लगाकर, प्राण और अपान वायुको नासिकाके भीतर बराबर चलाते हुये जो मुनि इन्द्रिय, मन और बुद्धिको भलेप्रकार अपने वशमें रखता है, इच्छा, भय और क्रोध जिसका नष्ट हो गया, जिसको मोक्षही सबमें श्रेष्ठ महालाभ प्राप्त करने योग्य पदार्थ दिखता है, वह सदा ही मुक्त है।

मोक्षका मुख्य साधन योगाभ्यास तथा ध्यान भगवद्गीता में कहा है, उसी प्रकार जैनधर्मके ग्रंथोंमें भी ध्यानका

महत्त्व बहुत बड़ा दिखाया गया है। शुक्लध्यानके विना केवल ज्ञान और मुक्ति कदापि नहीं हो सकती ऐसा मुख्य सिद्धांत है। और वह शुक्ल ध्यान किस प्रकार किया जाय और किस २ ने किस प्रकार किया था, इस बातका प्रत्यक्ष परिचय करानेकेलिये ही मूर्त्तिकी स्थापना व पूजा की जाती है।

मूर्त्तिपूजा अष्ट प्रकारके द्रव्योंसे श्रावक लोग करते हैं, मुनि लोग पूजा नहीं करते, केवल मात्र दर्शन और नमस्कार करते हैं।

श्रावक लोग जिन आठ द्रव्योंसे पूजा करते हैं, वे इस प्रकार हैं: १—जलसे मूर्त्तिका स्नान कराना, २ मूर्त्तिके अग्रभागमें केशर वा चन्दन चढ़ाना ३ मूर्त्ति के आगे अक्षत (चावल) चढ़ाना, ४ पुष्प रखना, ५ नैवेद्य रखना, ६ दीपक जलाकर रखना, ७ धूप जलाना और फल रखना, इस प्रकार आठ द्रव्योंसे पृथक् पृथक् मंत्रोच्चारणपूर्वक समर्पण करते (चढ़ाते) हैं, तथा (आठों) द्रव्योंको एकत्र करके अर्घ्य देते हैं। पूजाके स्थानपर आहवनीय, गार्हपत्य दक्षिणाग्नि इसप्रकार तीन अग्नि पृथक् २ कुंडमें जलाकर उसमें आहुती देनेकी आज्ञा है। पूजामें—अरहंतपूजा, सिद्ध पूजा, गुरु पूजा, सरस्वती पूजा, प्रत्येक तीर्थंकरकी पूजा, निर्वाणभूमिकी पूजा, दशलाक्षणिक पूजा, षोडशकारण पूजा इत्यादि बहुत भेद हैं; उन सबमें ही सद्गुणोंका वर्णन और स्तुति की हुई होती है पूजामें अर्पण किया हुआ पदार्थ निर्माल्य होता है, उसे कोई भी श्रावक नहीं खावे वा अपने काममें नहीं लावे, ऐसी आज्ञा है क्योंकि,—ये पदार्थ निर्माल्य हो गये, निर्माल्य खानेका बहुत बड़ा दोष कहा है। इसप्रकार मूर्त्तिपूजाका संक्षिप्त विवरण कह कर

अब व्याख्यानका आठवाँ खंड जैनधर्मके मुख्य २ तत्त्वोंसे अन्य धर्मका साम्य नामका भाग कहा जाता है।

जैनधर्मके मुख्य तत्त्वोंसे अन्यधर्मोंका साम्य।

जैनधर्मके मुख्य सिद्धान्त कहिए,—आत्माका अमरत्व मानना, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और परिग्रहत्याग इन पांच व्रतों का पालना, मांसाहार वा मद्यपानका त्याग करना, अपने कर्मानुसार सुखदुःख भोगने और अन्त में प्रकृत सुख (सच्चा सुख) जन्ममरण रहित जो मोक्षपद है, उसकी प्राप्ति करना आदि ही है। इन मुख्य सिद्धान्तोंकी अन्यान्यधर्मों से बहुत ही समता है। हिन्दू और पारशी, मुसलमान, और ख्रिश्चियन ये सब ही आत्माका अमरत्व मानते हैं। जैन पुनर्जन्म मानते हैं। उसी प्रकार हिन्दू भी मानते हैं। पारशी, मुसलमान और ख्रिश्चियन ये लोग पुनर्जन्म नहीं मानते तो भी मृत्युके पश्चात् आत्मा जीवित ही रहता है, तथा वह परमेश्वर के पास जाता है। वहाँपर वह अपने अपने कर्मानुसार सुखदुःख भोगता है, ऐसा कहते हैं। वास्तव में आत्मा का अमरत्व सबने ही माना है। अहिंसा सत्य अचौर्य वगैरह व्रतों के विषय में श्रीमद्भागवत में लिखा है। कि—

अहिंसालक्षणो धर्मो ह्यधर्मः प्राणिनां वधः॥
तस्माद्धर्मार्थिभिर्लोके कर्तव्या प्राणिनां दया॥ १॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं तथा मैथुनवर्जनं॥
चतुर्ष्वेतेषु सूक्तेषु सर्वे धर्माः प्रकीर्तिताः॥ २॥

अर्थ,—जिसमें अहिंसा है, वह ही धर्म और जिसमें जीवों का वध है वह ही अधर्म है। इस कारण धर्मार्थी लोगों को जीवों पर दया करनी चाहिये॥ १॥ अहिंसा,

सत्य, अचौर्य और मैथुनवर्जन इन्हीं चार शब्दोंमें समस्त धर्मोंका वर्णन किया गया है ॥ २ ॥ "अहिंसा परमो धर्मः" यह श्रुतिवाक्य भी है। मद्यमांसादि अभक्ष्य पदार्थों के बाबत महाभारत में कहा है कि...

मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कन्दभक्षणम् ॥
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थयात्रा जपस्तपः ॥ १ ॥

अर्थ,—मद्य, मांस, रात्रिभोजन, कन्दभक्षण जो करते हैं उनको तीर्थयात्रा करना और जप तप करना सब वृथा है। पुनः श्रीभागवतमें कहा है कि—

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः ॥
निशाहारपरित्यक्त एतद्ब्राह्मणलक्षणम् ॥ १ ॥

अर्थ,—मद्य, मांस, मधु और पांच उदुंबर फलोंका जिसने त्याग किया है और रात्रिभोजनका जिसने त्याग किया है, उसको ही ब्राह्मण कहना चाहिये। इसी प्रकार शिवधर्म-में भी कहा है कि,—

मद्ये मांसे मधुनि च नवनीते बहिर्गते ॥
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते असंख्यातश्च जन्तवः ॥ १ ॥

अर्थ,—मद्य, मांस, मधु और बाहिर काढे हुये मक्खनमें असंख्यात जीव उत्पन्न होते और मरते हैं इसप्रकार हिन्दुधर्मके ग्रन्थों का प्रमाण है। पारसी, मुसलमान और खिश्चियनों की पुस्तकोंमें भी अहिंसा और मांसाहार व मद्यपान वगैरह के त्याग करनेका उल्लेख मिलता है। पारसी धर्मपुस्तक शाहनामाका कर्त्ता फेरदोसी लिखता है कि,—

नीस्तफ़न्द खुरो ते जानवर जु ॥
चनीन अस्त दीने भरदुस्तनेकु ॥ १ ॥

और मुहम्मद पैगंबर का जवाँई अली मांस खानेकी

मनाही करता था। अकबर बादशाह भी शुक्रवार, रविवार और ग्रहणके दिन, तथा फरवरदिन महीने भर में मांस नहीं खाता था। स्वयं मुहम्मद पैगंबर का सख्त हुक्म है कि मक्काशहरमें कयाब के आगे किसी भी प्राणी का वध नहीं करना। हाल में भी प्रत्येक मुसलमान 'सालेकशरयत' में से होकर 'तरीकतमें' जाते ही मांस खाना छोड़ देता है। मद्यपान करने की व व्यभिचारसेवन करनेकी मुसलमान धर्ममें सख्त मनाही है। सत्य भाषण करना और चोरी करना नहीं, ऐसी कुरानकी आज्ञा है। खिस्तीय धर्म की दश आज्ञायें है। उनमेंसे किसी का वध (हिंसा) नहीं करना, असत्य नहीं बोलना, चोरी नहीं करना, व्यभिचार नहीं करना, साथी व पड़ोसीकी वस्तुओंपर लालच नहीं करना, मद्यपान नहीं करना, ये सब आज्ञा जैनधर्मसे मिलती हुई हैं। मांस भक्षण करने की मनाही भी खिश्चीय शास्त्रोंमें की गई है।

Behold, I have given you every herb bearing seed, which is upon the face of all the earth, and every tree in which is the fruit of a tree yielding seed ; to you it shall be for meat.

(Genesis Chapt 1. 29.)

अर्थ—देखो, सर्व पृथ्वीकी पीठपर धान्य उत्पन्न करने वाली प्रत्येक वनस्पति और फल उत्पन्न करनेवाले वृक्ष ये मैंने तुझे दिये हैं, सो ये धान्य और फल तुझे मांसके बदलेमें ही है।

While the flesh was yet between their teeth, ere it was chewed, the wrath of the LORD was kindled against the people, and the LORD smote

the people with a very great plague.

(See verse 33 and also verse 19 and 20.)

मांस दांतमें पकड़कर चाबता है इतनेमें ही परमेश्वरका कोप लोगोंपर जल उठा और बड़ा भारी भयंकर रोगोंका समूह लाकर परमेश्वरने लोगोंको पीड़ा दी।

(देखो नं० ११—१६—२० ओवी ३३ वीं)

इसप्रकार मांसाहारके त्याग करनेका आधार (प्रमाण खिस्तीय शास्त्रोंमें है। मुक्ति फौजका मुख्य जनरल बूथने मांसाहारका त्याग किया है। और वह अपने शिष्योंको मांसाहार नहीं करना, ऐसा उपदेश देता रहता है। यूरोप और अमरीका खंडमें जगह २ मांसाहार त्याग करानेवाली सभायें संस्थापित होती हैं। और वे आरोग्य रक्षाकी दृष्टि से मांसाहार त्याग करनेका उपदेश देती रहती हैं।

इसपरसे मांसाहार त्याग करनेके विषयमें और खानेपीनेके नियम रखनेके विषयमें जैनधर्मसे मिलते हुये अन्य धर्मोंके अभिप्राय वा प्रमाण बहुत ही मिलते हैं। जैनधर्मको शंकराचार्यने नास्तिक कहा है सो उनकी भूल है। और शंकरभाष्यमें "नैकस्मिन्नसंभवात्" इस सूत्रका भाष्य लिखते समय जैनमतसंबंधी अनेकान्त स्याद्‌वादका खंडन किया है सो 'स्याद्वाद क्या है' ऐसा शंकराचार्यकी समझमें भली प्रकार नहीं आनेसे तथा अपने मतका अत्यन्त पक्ष व अभिमान होनेके कारण किया गया है ऐसा अनुमान होता है, अनेकान्त कहिये—एक ही वस्तुमें अनेक धर्म होना, जैसे एक ही मनुष्यको कोई तो पिता, कोई काका (चाचा) कोई मामा कोई ससुरा कोई जवाँई इसप्रकार भिन्न २ संबंधसे कहते हैं। सो सब ही भिन्न २ अपेक्षासे कहते हैं। अर्थात् पुत्रकी अपेक्षासे पिता, भतीजेकी अपेक्षासे काका, भानजेकी अपेक्षासे

मामा, जवाँईकी अपेक्षासे ससुरा और ससुराकी अपेक्षासे जवाँई इसप्रकार उस एक ही आदमीको कहते वा पुकारते हैं। अथवा एक ही मनुष्यको चतुर व मूर्ख कहा जाता है। अर्थात् उससे अधिक चतुर मनुष्यकी अपेक्षा देखते हैं तो वह मूर्ख समझा जाता है। और उससे अधिक मूर्खकी अपेक्षा उसे चतुर कहते हैं। स्वचतुष्टयकी अपेक्षा एक वस्तु कथंचित् 'सत्' है, और परचतुष्टयकी अपेक्षा वही वस्तु कथंचित् 'असत्' है। सर्वथा 'सत्' ही नहीं और सर्वथा असत् ही नहीं, शंकराचार्यने भी ऐसे दोषको दूर करते समय 'परमार्थतः' 'व्यवहारतः' कहिये परमार्थ दृष्टिसे तो इसप्रकार है और व्यवहार दृष्टिसे इसप्रकार है, ऐसे कहा है। उदाहरणार्थ भगवद्गीतामें किसी २ जगह ऐसे आते हुए दोषको इसीप्रकार दूर किया है। जैसे.—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥१॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ २ ॥

अर्थ,—परमेश्वर जगतका कर्तृत्व व कर्मको उत्पन्न नहीं करता, इसीप्रकार कर्मोंके फलकी योजना भी नहीं करता, स्वभावसे ही सब होता है। परमेश्वर किसीका पाप लेता नहीं और न किसीका पुण्य लेता है। अज्ञानकेद्वारा ज्ञानपर परदा पड़जानेसे मोहमें पड़ते हैं। इस ही अभिप्रायका विरोध करनेवाला नीचे लिखा श्लोक गीतामें है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१॥

अर्थ,—हे अर्जुन, परमेश्वर समस्त जीवोंके हृदय देशमें रहता है और अपनी अद्भुत करणीकेद्वारा समस्त

जीवोंको सूत्रयंत्रमें डालकर नचाता है । इसप्रकार उपर्युक्त दोनों श्लोकोंके और इस श्लोकके अभिप्रायमें बड़ा विरोध है। एक जगह तो ईश्वर कुछ भी नहीं करता ऐसा कहा है। और दूसरी जगह ईश्वर ही सब कुछ करता है। इसप्रकारके परस्पर विरोधी वाक्योंमें 'परमार्थतः 'व्यवहारतः' इस प्रकार भिन्न २ दृष्टिसे विचार करके ही उनमेंसे शंकराचार्यने विरोध दूर किया है।

वर्तमान समयमें भी किसी विषयका विचार करते समय नैतिक दृष्टिसे, वैद्यक शास्त्रकी दृष्टिसे, अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे, व्यवहार दृष्टिसे, परमार्थ दृष्टिसे इस प्रकार भिन्न २ अपेक्षासे विचार करके उसका निराकरण करते हैं। उसी प्रकार जिनमतका स्याद्वाद है और इस विषयको डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर एम्. ए. ने अभिप्राय (सम्मति) देते समय रिपोर्टमें उल्लेख किया है, सो यह है।

" There are two ways of looking at things, one called Dravyaarthikanyaya and the other Paryayarthikanyaya. The production of a jar is the production of something not previously existing, if we take the latter point of view, *i. e.*, as a Paryaya or modification ; while it is not the production of something not previously existing, when we look at it from the former point of view, *i. e.*, a Dravya or substance. So when a soul becomes, through his merits or demerits, a God, a man, or a denizen of hell, from the first point veiw, the being is the same, but from the second he is not the second, *i. e.*, different in each case. So that, you can affirm

or deny. This leads to the celebrated Saptabhangi-nyaya or the seven modes of assertion. You can affirm existence of a thing from one point of view (Syad asti), deny it from another (Syan nasti) ; and affirm both existence and non-existence with reference to it at different times (Syad asti nasti). If you should think of affirming both existence and non-existence at the same time from the same point of view, you must say that thing cannot be so spoken of (Syad avaktavya) similarly under certain circumstances the affirmation of existence is not possible (Syad asti avaktavya) ; of non-existence (Syan nasti avaktavya) and also of both (Syad asti nasti avaktavya). What is meant by these seven modes is that a thing should not be considered as existing everywhere, at all times, in always, and in the form of every thing. It may exist in one place and not in another, at one time and not at another, &c., &c. It is not meant by these modes that there is no certainty or that we have to deal with probabilities only, as some scholars have thought. All that is implied is that every assertion which is true is true only under certain conditions of space, time &c. This is the substance of the section which treats of Dravyasamanya or Dravya generally."

अर्थ,—पदार्थके विचार करनेके दो मार्ग हैं। द्रव्य-

द्रव्यार्थिक नय और दूसरा पर्यायार्थिक नय। मूल पदार्थका जो बाह्यस्वरूप पूर्वमें उत्पन्न नहीं हुआ, उसको जब हम पर्यायार्थिक नयसे विचार करते हैं तो उसको पर्याय अथवा पलटना कहते हैं। और पूर्वमें कभी हुआ नहीं और नया भी उत्पन्न नहीं हुआ उसको जब हम द्रव्यार्थिक नयसे विचार करते हैं, तब उसको द्रव्य कहते हैं। जैसे,—आत्मा जब अपने पुण्यपापके फलसे देव, मनुष्य अथवा नरकवासी होता है, तब उसको द्रव्यार्थिक नयसे वही आत्मा है, ऐसा कहा जाता है और पर्यायार्थिक नयसे उसही आत्माको देव, मनुष्य अथवा नारकी इस प्रकार प्रत्येक अवस्थामें जुदा २ कहते हैं। इसी प्रकार ही एक वस्तुको किसी समय अथवा उस ही समय वह अमुक वस्तु है ऐसे तुम कह सकते हो उसी प्रकार वह वस्तु वैसी नहीं है, इसप्रकार भी कह सकते हो इसी तरह ही सप्तभंगी नयसे अथवा सात प्रकारसे वस्तुस्वरूप कहनेकी शैली (रीति) है।

एक अपेक्षासे तुम एक वस्तु है, (स्यादस्ति) ऐसे कहोगे व दूसरी अपेक्षासे वह नहीं है (स्यान्नास्ति) ऐसे भी कहोगे इसीप्रकार भिन्न २ समयमें वह वस्तु है वा नहीं है, (स्यादस्तिनास्ति) ऐसा भी कहोगे, जब तुमको एक वस्तु एक ही समयमें उस ही अपेक्षासे है और नहीं है, ऐसा मालूम होय तब कहनेमें आवे ऐसी नहीं है (स्यात्अवक्तव्य) ऐसा कहोगे, इस ही प्रकार किसी अपेक्षासे वस्तुका अस्तित्व कहना अशक्य हो, तो वहां कथंचित् अस्तित्व कहनेमें आवे ऐसा नहीं (स्यात् अस्ति अवक्तव्य) इसप्रकार कहोगे, इसीप्रकार वस्तुका नास्तित्व कहनेमें नहीं आ सके वहां (स्यान्नास्ति अवक्तव्य) कथंचित् वस्तुका नास्तित्व कहनेमें

आता नहीं इसप्रकार कहोगे, और जहां वस्तुका अस्तित्व व नास्तित्व दोनों ही कहनेमें नहीं आ सके वहां (स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य) दोनों ही कहनेमें आवे ऐसे नहीं है, इसप्रकार कहोगे, इन सात प्रकारके नयोंसे ऐसा समझना कि—एकही वस्तु प्रत्येक जगह सर्वकाल प्रत्येक पद्धतिमें और प्रत्येकके आकार की है ऐसा नहीं है। वह वस्तु एक जगह हो सकती है परन्तु दूसरी जगह नहीं होती। एक समयमें होती है परन्तु दूसरे समयमें नहीं है, इत्यादि जानना। इनपरसे कितने ही विद्वानोंका ऐसा विश्वास है कि—इनमें सत्य एक भी नहीं है अथवा अपनेको केवल मात्र संभवनीय समुच्च ही ग्रहण करके चलना सो ऐसा नहीं है। प्रत्येक वक्तव्य, जो जुदी २ अवस्थामें व जुदे २ समयमें है इत्यादि प्रकारसे जानकर सत्य है उस अपेक्षासे वह सत्य है. यही इसमें सारांश है, इसके द्वारा द्रव्य सामान्य किंवा सामान्य द्रव्यका विवेचन होता है।

इसप्रकार स्याद्वाद अनेकान्तके विषयमें डाक्टर भांडारकर का मत है। डाक्टर भंडारकरने जैनधर्मके अनेक ग्रंथ देखे (पढ़े) हैं। सो पृथक् पृथक् ग्रंथोंपर उनके सूचीपत्रोंमें दिये हुये प्रमाणोंसे मालूम होता है। इसी प्रकार जो विद्वान् जैनधर्मके ग्रंथ अपने मनकी समताको ठीक रखकर अर्थात् निष्पक्षपनेसे देखेंगे व भलेप्रकार समझेंगे तो उनको उनमेंकी यथार्थता भासे बिना नहीं रहेगी।

जैनमत यदि नास्तिक होता तो वेद में उसको सन्मान (स्थान) नाहिं मिलता। परन्तु वेद में तथा अन्यान्य ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में कहा है कि,—

ॐ त्रैलोक्यप्रतिष्ठितानां चतुर्विंशतितीर्थकराणां ऋषभादि-वर्द्धमानान्तानां सिद्धानां शरणं प्रपद्ये।

अर्थ,—जो ऋषभसे लेकर वर्धमानपर्यन्त त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित चौबीस तीर्थंकर सिद्ध हैं उनकी मैं शरण में प्राप्त होता हूँ।

ऊँ पवित्रं नग्नमुपवि (ई) प्रसामहे येषां नग्ना (नग्नये) जातिर्येषां वीराः।

अर्थ—यजमान कहता है कि,—मैं पवित्र (शुद्ध) किंवा पापसे मुक्त करनेवाले व नग्न (दिगम्बर) देवोंको प्रसन्न करता हूँ, जिनकी जाति नग्न होती है और वीर कहिये बलवान् होते हैं।

यजुर्वेदमें कहा है कि,—

"ओं नमोऽर्हन्तो ऋषभो"

अर्थ,—अरहंत पूज्य ऋषभदेवको नमस्कार होउ। तथा-

ॐ ऋषभं पवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परमं माहसं स्तुतं वारं शत्रुं जयं तं पशुरिन्द्रमाहुरिति स्वाहा।

उच्चातारमिन्द्रं ऋषभं वपन्ति अमृतारमिन्द्रं हवे सुगतं सुपार्श्वमिन्द्रं हवे शक्रमजितं तद्वर्द्धमान पुरुहूतमिन्द्रमाहुरिति स्वाहा।

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु दीर्घायुस्त्वायबलायुर्वा शुभजातायुः॥

अर्थ—पवित्र ऋषभदेवको और इन्द्ररूपी अध्वरको यज्ञमें नग्नको पशुशत्रुको जीतने वाला, जिसको इन्द्र कहते हैं उसको हवि देता हूं। रक्षण करनेवाले परम ऐश्वर्ययुक्त और अमृत व सुगत (सर्व व्यापक) सुपार्श्व (जिसके नजदीक वाले जीव श्रेष्ठ हैं) ऐसे पुरुहूतको (इन्द्र) ऋषभ देव व वर्धमान कहते हैं, उसको हवि देता हूं। वृद्धश्रवा (अतिशय घनाढ्य) इन्द्र कल्याण करो और विश्ववेदा सूर्य

नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात्परः
दुर्वारस्मरबाणपन्नगविषव्यासक्तमुग्धो जनः ।
शेषः कामविडम्बितो हि विषयान्भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः ॥

अर्थ,—विषय भोगोंमें एक शंकर ही शोभता है क्यों-कि उसने अपनी स्त्री शरीरके आधे हिस्सेमें रख छोड़ी है। और विरक्तोंमें एक जिन ही शोभता है, उसकी समान अन्य कोई नहीं है। क्योंकि जिसने स्त्रीका सङ्ग सर्वथा छोड़ दिया है। इनके सिवाय बाकीके जो लोग हैं, उनको दुर्द्धर कामबाणरूपी सर्पके विष से ग्रसित और मोहित करके कामने ठग लिया है। ऐसे मनुष्य विषयों को न तो भोग सकते हैं और न छोड़ ही सकते हैं। इसप्रकार अनेक उदाहरण वेदमतानुयायी ग्रंथोंमें मिल सकते हैं। परन्तु समय अधिक लगैगा।

इसप्रकार विचार करने से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि—अनेकान्त स्याद्वादका स्वरूप शंकराचार्यकी समझमें भले प्रकार आया नहीं इस कारण से तथा अपने मतकी पक्षपातता से जैनमत को नास्तिक कहा है और कोई कारण नहीं है। नास्तिक व आस्तिक इन शब्दों को सिद्ध करने के लिए पाणिनीय व्याकरण में इसप्रकार कहा गया है:—

सूत्र—अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः ॥
परलोकः, अस्ति इतिमतिर्यस्यास्तीति आस्तिकः ।
परलोको नास्ति इतिमतिर्यस्यास्तीति नास्तिकः
दिष्टमस्ति इति मतिर्यस्यास्तीति दैष्टिकः

अर्थात्–परलोक है, ऐसा जो मानता है वह तो आस्तिक है और परलोक नहीं है, ऐसा माननेवाले नास्तिक हैं।

और देव हैं ऐसे जो मानते हैं सो दैष्टिक कहलाते हैं । इस सूत्र के अनुसार नास्तिक न होकर जैन पूर्ण आस्तिक सिद्ध होते हैं क्योंकि जैन लोक स्वर्ग नरक आदि परलोकका अस्तित्व पूर्णतया मानते हैं, जैनमतमें स्वर्ग सोलह, नरक सात, और मृत्युलोक आदि सब विषय माने हैं और यह जीव कर्मरूपी बंधन से अनन्तबार इन तीनों लोकोंमें जन्ममरण करता फिरता है । इसप्रकार प्रत्येक जैन ग्रन्थमें लिखा हुआ है। इस परसे जैन मतमें परलोकका अस्तितव पूर्ण रीतिसे माना हुआ व पाणिनीयके मतानुसार जैनमत परम आस्तिक ही सिद्ध होता है।

अब कोई इस प्रकार आक्षेप करते हैं कि, जैन लोग ईश्वरको सृष्टिकर्त्ता नहीं मानते, इसीकारण वे नास्तिक हैं। तो भी ईश्वर कथंचित् सृष्टिका कर्त्ता है, सर्वथा नहीं है, इसप्रकार जैनधर्ममें माना गया है । परमेश्वर ने मनुष्य हित अहित क्या है सो कहा है, मनुष्यों की उपजीविकाका मार्ग खेती, व्यापार, कलाकौशल्य, राजधर्म ये सब किसप्रकार चलाना सो बताया है! भला करनेवालेको भला फल और बुरा करनेवालोंको बुरा फल मिलता है, ऐसा समझा दिया है । इसप्रकार सृष्टिका कर्त्तापणा परमेश्वर में अवश्य है। परन्तु मनुष्य जो कुछ भला बुरा करता है सो परमेश्वर की इच्छानुसार करता है—अर्थात् उसके बुरे भलेका कर्त्ता परमेश्वर है ऐसा नहीं माना है । क्योंकि इसप्रकार मानने से बड़ा विरोध आता है। जैसे—मनुष्य ने चोरीकी वह ईश्वर की इच्छासे की अथवा ईश्वरने उसको ऐसी खराब बुद्धि दी, इसकारण उसने चोरी की, वा उसने चोरी की इसकारण ईश्वरने उसको दंड दिया । तब चोरी करने की बुद्धि भी आप देवे, और उसके बदलेमें दंड भी आप

होवे यह कितना असंगत है ? और ऐसा विसंगत किसलिये है ऐसा प्रश्न किया जाय, तब ईश्वरकी लीला अगाध है। ऐसा कहकर किसी प्रकार मनको समझा लिया जाता है। इसकारण (तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंने) सर्वकर्तृत्व परमेश्वर पर नहीं डाला है। उदाहरण के लिये वे ही भगवद्गीताके दो श्लोक पांचवें अध्यायमें हैं,—

> न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
> न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥ १४ ॥
> नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
> अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

अर्थ,—जनोंका कर्तृत्व और कर्मको परमेश्वर उत्पन्न नहीं करता तथा कर्मोंके फलकी योजना भी वह नहीं करता। किन्तु स्वभाव है सो ही प्रवृत्त होता है ॥ १४ ॥ परमेश्वर किसीका पाप ग्रहण नहीं करता, और पुण्य भी नहीं लेता, ज्ञानपर अज्ञानका परदा पड़ा हुआ है, इसकारण प्राणी मोहित हो जाते हैं। इसपरसे विचार करनेपर जगत्का सम्पूर्ण कर्तृत्व परमेश्वरने अपने ऊपर ही नहीं लिया है। और उसने कुछ उत्पन्न भी नहीं किया। वर्षा होना, माताके स्तनोंमें दुग्धका उत्पन्न होना, अग्निको उष्ण रखना, सूर्यको प्रकाशमान करना इत्यादि बातें ईश्वरकृत न होकर वस्तुस्वभावके द्वारा ही होती है। क्योंकि इनको ईश्वरकृत माननेसे फिर दुर्भिक्ष पड़ना, प्लेग होना, जलप्लावन होना, भूमिकम्प होना, छोटे २ बच्चोंकी माताओंका मरना आदिका कर्ता भी ईश्वरको मानना पड़ैगा। तब ईश्वरपर बड़ा दोषारोपण करना ठहरैगा। हिंदूधर्मके वेदान्तविषयमें उत्तम कार्योंका कारण सत्वगुण और अनिष्ट कार्योंका कारण तमोगुण कहा
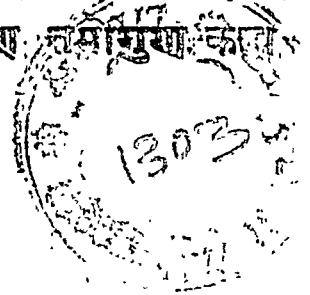
गया है। उसीप्रकार मुसलमान तथा क्रिश्चियन लोग भी अनिष्ट कार्योंके कर्ताको सैतान और ईश्वरको केवलमात्र श्रेष्ठ कार्योंका कर्त्ता ही मानते हैं। ईश्वरको सबजनें अनन्त गुणी कहते हैं, परन्तु अनन्त दोषी कोई भी नहीं कहता है। अर्थात् समस्त कार्योंका कर्तृत्व ईश्वरमें कोई भी नहीं मानता। इस ही प्रकार जैनलोग भी परमेश्वरको सम्पूर्णतया कर्त्ता नहीं मानते। पापपुण्यका फल कहना व पापपुण्यका कारण व मार्ग बता देना मात्र ईश्वरद्वारा स्वतः ही होता है। परन्तु वह फल स्वयं देता है, ऐसा नहीं मानते। ख्रिस्तीय शास्त्रमें भी ईश्वर फल नहीं देता ऐसा प्रमाण मिलता है जैसे,—

"और पिता न्याय (विचार) नहीं करता, तो सब न्याय करना पुत्रको सोंप दिया गया है २३"

योहान्न अध्याय ५।

पिता कहिए ईश्वर किसीका न्याय नहीं करता। न्याय करनेका कार्य पुत्रको कहिए ईशु क्राइष्टको उसने सौंप दिया है। ईशु क्राइष्टके जन्म को आज १९०१ वर्ष होगये। उससे पहिले न्याय करनेका काम किसी अन्यको दिया होगा तथा उससे पहिले अन्य किसीको न्यायकर्त्ता बनाया होगा। इस कहनेसे न्याय करनेवाले सैकड़ों हज़ारों बलके असंख्यात होने चाहिये। ईश्वरने स्वतः यह कार्य करना अपनेपर रक्खा नहीं, अन्य किसीको ये काम सौंप दिये होंगे। अर्थात् लेजिस्लेटिव (कायदे करनेका) करनेका काम अपने स्वाधीन रखकर एक्झीक्युटिव (तामील करनेका) काम अन्य जनोंपर छोड़ दिया है। ऐसा करना अनेक प्रंशोंमें जैनमतके अभिप्रायोंसे मिलता हुआ है। जैनमतके तीर्थंकर

पापपुण्यके फल इसप्रकार हैं. ऐसा कहते हैं वा उपदेश देते हैं। परन्तु वे स्वतः फल किसीको भी नहीं देते।

ग्रीस देशके सात विद्वानोंमेंसे प्रख्यात् तत्त्ववेत्ता, आरिस्टोटल, जो खिस्तीशकसे ३८४ वर्ष पहिले हुआ था। उसने भी "सृष्टिका कर्त्तापना ईश्वरपर नहीं है" ऐसा कहा है—

"—Not taking cognizance of, and not regarding the affairs of the world, which owed not its existence to him, and to which his presence and influence do not extend—"

अर्थ,—सृष्टिके कर्तृत्वमें ईश्वरका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होनेके कारण वह सृष्टिके कार्योंमें अपना चित्त नहीं लगाता, और न उसकी देखरेख ही करता है तथा सृष्टिके कार्योंमें वह अपनी हाजरी वा शक्तिको काममें नहीं लाता।

इत्यादि तत्त्ववेत्ताओंके अभिप्राय देखनेपर जैनोंका कहना युक्तिसे बाहिर नहीं है।

अब मेरे व्याख्यानका नवाँ भाग "जैनधर्मसे इस लोक सम्बन्धी सुख और देशका हित" नामका है, सो इतना कहे बाद व्याख्यान पूर्ण हो जायगा।

जैनधर्मसे इसलोकसम्बंधी सुख व देशका हित।

इतने समयतक मैंने जैनधर्मके संक्षिप्त परिचयके विषयमें कहा उस परसे श्रोतागणोंको कदाचित् ऐसा विश्वास हुआ होगा कि जैनधर्मके सेवनसे जो कुछ सुख होना संभव है, वह इस लोकमें नहीं होकर अगले जन्ममें होगा, सो अगले

जन्ममें मिलेगा ही इसका क्या ठिकाना ? इस जन्ममें अपने देखनेमें सुखप्राप्ति होय, वा इसके कारण अपने देशका हित होता होय तब तो यह धर्म लोकोपयोगी हो सकता है। ऐसी शंका हुई होगी, इसका उत्तर पूर्णतया अस्तिपक्षका दिया जाता है कि जैनधर्मसे इस लोक सम्बन्धी सम्पूर्ण सुख भोगनेको मिलते हैं, तथा अपने देशका भी कल्याण होता है। देखिए इस लोक सम्बंधी सुख क्या होता है कि अपनेको खानेपीनेके लिए सब कुछ होना, वस्त्राभूषण होना, घरद्वार होना, वगैरह सुखकी सामग्री होना इस लोकका सुख मिलना है।

वर्तमान भारतवर्षमें अनुमान १५ लक्ष जैन लोग हैं सो उत्तर तरफमें लाहौर, काश्मीर, डेरागाजीखां पर्यन्त दक्षिणमें महशूर, कांची, रामेश्वर पर्यन्त पूर्वमें बनारस कलकत्ते तक और पश्चिममें मुम्बई, गुजरात, कच्छ, मारवाड़, करांचीबंदर तक बड़े २ शहर व छोटे २ गांवोंमें भी रहते हैं परन्तु उनमें से रस्ते रस्तेपर भिक्षाटन करके पेट भरनेवाला एक भी नहीं मिलैगा। दुर्भिक्ष होनेपर घरमें अकस्मात् अग्नि लगनेसे किंवा नदीकी बाढ़ आनेसे घरद्वार वह जानेसे कितनेक लोग अनाथ देखनेमें आते हैं परन्तु बहुत ही थोड़े हैं। जैन लोगोंमें बहुतसे जन तो व्यापार साहुकारी और खेतीका धंदा करने वाले हैं, कोई २ नोकरी करनेवाले भी हैं। परन्तु सब ही खा पीकर सुखसे कालयापन करते हैं। इनके निजके मकानादि हैं अर्थात् बहुधा मध्यम अवस्थावाले ही हैं-तथा अनेक जन लक्षाधिपति कहलानेवाले भी जगह २ पर हैं, तथा दो चार कोट्यधीश भी मिलेंगे।

इस प्रकार जैन लोगोंकी इस लोक संम्बन्धी सुखावस्था

है, अब नैतिक दृष्टिसे इनकी कैसी अवस्था है सो देखना चाहिए—कोई भी जाति कितनी नीतिमती है, यह देखना हो तो उस जातिकी जेलखानोंमें लोक संख्या कितनी है और किस प्रमाणसे है इत्यादि देखनेसे भले प्रकार अनुमान हो सकता है। सो मुम्बई प्रान्तकी जेल अडामेनिस्ट्रेशन रिपोर्ट सन् १८६१ सालकी देखनेपर ऐसा मालूम होता है।

धर्म व जाति.	सन् १८६१ खाने सुमारीके अनुसार लोकसंख्या	जेलकी लोक संख्या १८६१	कितनोंमेंसे एक मनुष्य जेलखानोंमें हैं.
हिन्दू.	१४८५७१७६	९७१४	१५०६ मेंसे
मुसलमान	३५०१९१०	५७९४	६०४ ,,
क्रिश्चियन.	१५८७६५	३३३	४७७ ,,
पारशी.	७३६४५	२९	२५४६ ,,
ज्यू.	९६३९	२०	४८१ ,,
जैन.	२४०४३६	३६	६१६५ ,,

इस कोष्टक परसे चार सौ सतत्तर खिस्तियोंमेंसे एक खिस्ती जेलखानेमें है। ज्यू-४८१ में से एक, मुसलमान ६४० में से एक, हिंदु १५०६ में से एक, पारशी २५४६ में से एक, और जैन ६१६५ में से एक है। जैनियोंकी जेलकी संख्या अन्योंकी अपेक्षा बहुत ही थोड़ी है। इससे जैनियोंकी नैतिक

पहिले कैसी अवस्था है सो प्रत्यक्षतया मालूम होती है।

जैनधर्ममें अहिंसा, सत्य, अचौर्य वगैरह श्रावक के ५ अणुव्रत जो पहिले कहे गये हैं, वे अतीचार रहित (निर्दोष) पालनेसे इन्डियन पिनलकोडके (ताजीरात हिन्दके) ५११ अपराधों में से कोई भी अपराध उसके हाथसे नहीं बनेगा सो नीचे के कोष्टक से ज्ञात होगा—

अध्याय ताजीरात हिंद	अध्याय का ब्योरा,	दफ़ा वा धारा	अणुव्रत अथवा उनके अतीचारों के नाम
१	प्रस्तावना	१	शास्त्राज्ञानुसार लेना,
२	साधारण व्याख्या	६ से ५२ तक	पापों व व्रतोंके लक्षण.
३	शिक्षा विषयमें	५३–७५ ,,	प्रायश्चित्त विधि.
४	साधारण अपवाद	७६–१०६ ,,	प्रमत्तयोग नहीं होनेसे पाप नहीं होता,
५	सहायता करनेके विषयमें	१०७–१२० ,,	पाच अणुव्रत व अतीचार
६	सरकारके विरुद्ध जो अपराध है उनके विषयमें	१२१–१३७,,	विरुद्धराज्यातिक्रम त्याग
७	फौज व आरमार संबंधी अपराधोंके विषयमें,	१३१–२४०,,	विरुद्धराज्यातिक्रम त्याग.

अध्याय ताजीरात हिंद	अध्यायका व्योरा	दफा वा धारा	अणुव्रत अथवा उनके अतिचारोंके नाम
८	लोगोंके स्वस्थपणेके विरुद्ध जो अपराध हैं उनके विषय में	१४१–१६०	अहिंसा, अणुव्रत व उसके पांच अतीचार.
९	सरकारी नौकरोंके किये हुये अपराध तथा उन संबंधी अपराधों के विषय में,	१६१–१७१	असत्यके अतीचार और अचौर्य व उसके अतीचार,
१०	सरकारी नौकरोंको जो कायदेसे अधिकार हैं उस अधिकारके अपमानके विषयमें,	१७१–१९०	विरुद्धराज्यातिक्रम अतीचारका त्याग
११	झूंठी गवाही व न्यायके विरुद्ध जो अपराध हैं उनके विषयमें,	१९१–२२९	अनृत, मिथ्योपदेश, विरुद्ध राज्यातिक्रम त्याग,
१२	रुपया तथा सरकारी स्टाम्प संबंधी अपराधोंके विषयमें,	२३०–२६३	प्रतिरूपक व्यवहार व विरुद्धराज्यातिक्रमत्याग
१३	वजन व मापके सम्बंधमें जो अपराध होते हैं उनके विषयमें	२६४–२६८	हीनाधिक मानोन्मान अतीचारका त्याग,
१४	साधारण सर्वलोगोंकी आरोग्यरक्षा व सदाचार सुरक्षित तथा सुभीतेके विरुद्ध अपराधोंके विषयमें,	२६८–२९४	अहिंसा, सत्य, व इनके सब अतीचारों का त्याग करना.

अध्याय ताजीरात हिंद	अध्यायका ब्योरा	दफा वा धारा	अणुव्रत अथवा उनके अतीचारोंके नाम
१५	धर्म सम्बन्धी अपराधोंके वि.	२९५–२९८	
१६	मनुष्यके शरीरसे विरुद्ध अपराधोंके विषयमें	२९९—३७७	अहिंसाव्रतको समस्त अतीचाररहित पालना.
१७	मालके विरुद्ध अपराध वि-	३७८—४६२	अचौर्याणुव्रत अतीचाररहित पालना.
१८	दस्तावेज, और व्यापार तथा मालपर निशान संबंधी अपराधोंके विषयमें	४६३—४८९	कूटलेखक्रिया और प्रतिरूपक व्यवहार त्याग
१९	नोकरी करनेके करार (शर्त) न माननेके अपराधविषयक.	४९०—४९२	सत्यव्रत.
२०	विवाहसम्बन्धी अपराध.	४९३—४९९	परस्त्रीअभिलाषा त्याग.
२१	इज्जत लेनेके अपराध.	५००—५०२	सत्यव्रत और रहोभ्याख्यानत्याग.
२२	अन्यायरूप धमकी देना व अपमान तथा कष्ट देनेके अपराधमें.	५०३—५१०	सत्यव्रत.
२३	अपराध करनेके प्रयत्न करना.	५११	पांचों ही अणुव्रत.

इस प्रकार जो मनुष्य श्रावकके पांच अणुव्रत निर्दोष (अतीचार रहित) पालन करेगा उसके हाथ से इन्डियनपिनलकोडकी कोई भी दफाका अपराध (गुनाह) नहीं हो सकेगा ! क्योंकि श्रावकको प्रतिदिन जो प्रतिक्रमण (सन्ध्यावन्दन) करना पड़ता है, उसका पाठ ही ऐसा है कि, उसको समस्त अपराधोंसे दूर रहने की आदत पड़ जाती है। उस पाठमें से थोडासा पाठ बतौर नमूने के सुनाया जाता है।

खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे ॥
मित्ती मे सव्व भूदेसु वैरं मज्झ न केणवि ॥ १ ॥
रागवंधं च दोसं च हरिसं दीणभावयं ॥
उस्सुगत्तं भयं सोगं रदिमरदिं च वोसरे ॥ २ ॥
हा दुट्ठ कयं हा दुट्ठ चिंतियं भासियं च हा दुट्ठं ॥
अंतो अंतो डज्झमि पच्छुत्तावेण वेयंतो ॥ ३ ॥

अर्थ,—समस्त जीवोंपर मैं क्षमा करता हूं और वे सब जीव मुझपर क्षमा करो। मुझे समस्त प्राणीमात्र से मैत्री है किसी से भी मेरा वैर नहीं है ॥ १ ॥ रागवन्ध, द्वेष, हर्ष, दीनता, औत्सुक्य. भय. शोक, रति, अरति इन मनोविकारोंको मैं त्याग करतां हूं ॥ २ ॥

अपने हाथ से कोई अन्याय कार्य हो गया अथवा अपने मनमें कोई अनिष्टचिंतवन किया होय तथा अनिष्ट भाषण किया हो तो उसको याद करके इस प्रकार पाठ कहना चाहिये कि,—

हाय ! हाय ! यह मैने कैसा बुरा कार्य किया ! ! अरेरे ! क्या क्या अनिष्ट वातें मैं अपने मनमें लाया था ! ! हाय ! हाय ! मैं यह अन्याय से दुष्ट भाषण किया ! ! इसके वदले मुझे वड़ा पश्चात्ताप है। मेरा अन्तःकरण जल रहा है ॥ ३ ॥

इस प्रकार मेरे व्याख्यानके नौ ही भाग मैंने संक्षेपतासे कहकर पूर्ण किये। थोड़े से समयमें (दो घंटेमें) जैन धर्मका परिचय कराना मुझसरीखे व्यापारी मनुष्यके द्वारा कहे जानेमें बहुत जगह भूल जानेकी संभावना है। परन्तु मैं व्यापारी होकर गुजराती हूँ शोलापुरनिवासी होनेके कारण मराठी भाषामें ऐसे बड़े २ श्रोताओंके सन्मुख, तिसपर भी धर्मसम्बन्धी विषयपर कहना इन सब बातोंको ध्यानमें लाने से मेरी भूलें क्षमा करनेके योग्य हैं। सुदैवसे आजकी सभाके अध्यक्ष (सभापति) रा. सा. के. बी. पाठक हैं, इनको जैन धर्मका विषय बहुत याद है। सो वे अपने भाषणमें मेरे कहने में जो न्यूनता रही होगी सो करेंगे ही। आजके श्रोताओंमें हिन्दू, मुसलमान, पारसी, जैन, क्रिश्चियन, प्रार्थनासमाजी वगैरह सर्व मतोंके महाशय बराबर दो घंटेतक बैठे रहकर शांति से श्रवण करते हैं सो यह उत्तम प्रकारकी शिक्षाका ही फल हैं, ऐसा मैं समझता हूं और जो मलका मोअज़मा का तथा हिन्दुस्थानके बादशाहोंकी कृपासे अपनेको यह शिक्षा मिली है व मिलती है तिसकेलिए उनका उपकार मानकर मैं अपना व्याख्यान पूर्ण करता हूं।

तदनन्तर अध्यक्ष (सभापति महोदय) रा. सा. काशीनाथ बापूजी पाठक बी. ए. ने अध्यक्षकी हैसियतसे अपना भाषण आरम्भ किया। उन्होंने कहा कि,—

रा. रा. हीराचंद नेमचंदजीने अपने व्याख्यानमें जैनधर्मका जो परिचय दिया, सो इसमें प्रायः सब ही वर्णन आगया है। थोड़ेसे समयमें इन्होंने जो कुछ वर्णन किया, वह बहुत ही उत्तम व सबको उपयोगी है। ये महाशय इस व्याख्यानको यदि छपा देंगे तो लोगोंको बहुत ही उपयोगी हो सकता है। इस कारण इसे अवश्य ही छपावें, ऐसी मैं आग्रहपूर्वक सू-

हुना करता हूं। जैनधर्ममें बड़े बड़े विद्वान् हो गये हैं, काव्योंके ग्रंथ इनमें बहुत ही उत्तमोत्तम हैं, जिनमेंसे धर्मशर्माभ्युदय-काव्य, पार्श्वाभ्युदय काव्य, यशस्तिलक चम्पू वगैरह ग्रन्थ अतिशय प्रशंसा करने योग्य हैं। व्याकरण शास्त्रके भी बड़े २ ग्रंथ जैन विद्वानोंने रचे हैं। जैनेन्द्र व्याकरण शाकटायन व्याकरण यह ग्रंथ, बहुत ही प्राचीन हैं। मद्रासमें आपर्ट साहब ने छापकर प्रसिद्ध किया है। जैन मतमें न्यायके ग्रंथ प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड, श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री वगैरह तारीफ करने लायक हैं। कर्नाटकी भाषामें भी व्याकरण सबसे पहले जैनविद्वानोंने ही लिखे हैं। जिस समय जौनसी भाषा प्रचार में थी उस भाषामें धर्मपुस्तकें लिखी जाना चाहिए, यह प्रशंसनीय उद्देश सबसे पहिले जैनी आचार्योंने ही काममें लाया था और मगध देशमें प्रचार हुई मागधीभाषामें जैन-विद्वानोंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं तथा उत्तरोत्तर इन्होंने भी हिंदू लोगोंकी समान संस्कृत भाषामें ग्रन्थ लिखने शुरू किये, व्यासजीने और शंकराचार्यजीने जैनमत सम्बन्धी अनेकान्त स्याद्वादमतका जो खण्डन किया है वह वास्तवमें भूल है। नयसे कहनेकी पद्धति उनकी समझमें नहीं आनेके कारण व अपने मतकी पक्षके कारण ही ऐसा लिखा है। जैनमतको नास्तिक कहा है सो जैनलोग ईश्वरको सृष्टिका कर्ता नहीं मानते इसी कारण ही कहा है। सृष्टिका कर्ता ईश्वर है या नहीं यह वाद आज हजारों बर्षसे चला आता है। केवलमात्र जैन लोग ही ईश्वरको सृष्टिका कर्ता नहीं मानते सो नहीं है किन्तु बौद्ध धर्म और यूरोपके कितने ही प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता भी सृष्टिका कर्ता ईश्वर है ऐसा नहीं मानते। यह वाद इसी प्रकार चलता रहैगा।

व्याख्यानदाताने अपने व्याख्यानमें श्रावक धर्म और यति

धर्म इन दो भेदोंका जो वर्णन किया है; उसमें सल्लेखना ना-मक मृत्युका एक भाग कहा है सो यह अन्तसल्लेखना अर्थात् मृत्युके समय कुछ कालपर्यन्त अन्नपानीका त्याग करके प्राण छोड़नेका सम्प्रदाय जैन धर्ममें था; ऐसा कर्नाटकके कईएक शिलालेखोंपरसे भी प्रगट होता है। अपने शरीरपर भी मोह नहीं रखना ऐसा उत्कृष्ट कक्षाका स्वार्थत्याग जैनमतमें ही दिखता है। हिन्दु धर्ममें मनुजीने लिखा है कि,—"आ-त्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि" ऐसा जैनमतमें नहीं है। जैन लोगोंके साधु स्नान नहीं करते यह तो बेशक मुझे प-सन्द नहीं है। जैन धर्ममें स्नान करनेका विशेष पुण्य नहीं कहा है तो भी इनके मन्दिर जब देखे जाते हैं तो उनमें बिल-कुल मैला न होकर बहुत ही साफ सुथरे होते हैं। महसूर प्रान्तमें श्रवणबेलगुल, हालीबीड़ वगैरह स्थानोंमें जैनलोगोंके अति प्राचीन और बड़े २ आकारके देवालय (जिनमन्दिर) हैं। उनको लाखों रुपये लगा २ कर बांधे होंगे। उनके भीतर कोठोंमें कहीं भी दुर्गन्ध वगैरह नहीं है, बहुत स्वच्छ है। श्र-वणबेलगुलके पहाड़पर उकीरी हुई खड़ी मूर्ति बहुत ही बड़ी है। उसके एक तरफ प्राचीन कर्नाटकी लिपि में और बालबोध लिपि में—गंगराजा ने कराया, चामुण्डराय ने कर-वाया ऐसे अक्षर लिखे हैं।

और भी जैन धर्म के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु समय बहुत हो गया। इस कारण बहुत नहीं कहकर व्याख्यानदाता का उपकार मानकर सभा का काम पूर्ण करता हूँ।

तदनंतर रा. सा. नारायण गोविंद देशमुख, डिस्ट्रिक्ट-कोर्ट प्लीडर ने सब की तरफ से सभापतिका उपकार मानकर धन्यवाद दिया, और सभा विसर्जन हुई।

Printed by Pandya Gulab Sankar, at the Tara Printing Works, Benares.

दिगम्बर जैन मालवा प्रांतिक सभा के उद्देश्य ।

१ लौकिक तथा पारमार्थिक उन्नति के लिये धार्मिक संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, व शिल्प विद्यालय, श्राविकाश्रम शुद्ध औषधालय, अनाथालय, छात्रशाला, कन्याशाला, सभा आदि उपयोगी संस्थाएं स्थापित कराना.

२ आपसी विरोध मिटाकर एकता कराने का प्रयत्न करना.

३ प्रांतीय तीर्थक्षेत्रों, दि. जैन मन्दिरों, सरस्वती भंडारों, पाठशालाओं तथा अन्य समस्त धार्मिक संस्थाओंका संभाल करना.

४ उपदेशकों, ट्रैक्टों, समाचार पत्रों तथा अन्य योग्य उपायों के द्वारा कन्याविक्रय, वेश्यानृत्य, व्यर्थ व्यय, बाल व वृद्ध विवाह, मिथ्यात्व तथा सप्तव्यसनादि कुरीतियों को हटाना और सर्व साधारण में जैन धर्म व जीव दयादि प्रचार किंवा सदाचार की प्रवृत्ति कराना.

यह सभा शुद्ध औषधालय, उपदेशक, ट्रैक्ट, विद्या प्रचार, समाचार पत्र, अनाथरक्षा जीवदया, पुरातत्व, तीर्थक्षेत्र और सरस्वती भंडार आदि विभागों के द्वारा धार्मिक व सामाजिक कार्य कर रही है इसको हर प्रकार से सहायता पहुंचाना जैनी मात्र का कर्तव्य है.